गरुड किसने देखा है

राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली पटना

गरुड़ किसने देखा है

श्रीकान्त वर्मा

मूल्य रु 35 00

प्रथम संस्करण 1987
प्रकाशक राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
1 बी नेताजी सुभाष मार्ग नयी दिल्ली- 110002
टाइप-सैटिंग फोटो टाइप डिवीजन
राजकमल प्रकाशन प्रा लि
एफ- 5 सैक्टर- 8 नौएडा- 201301
मुद्रक मेहरा आफसैट प्रेस
नयी दिल्ली
आवरण चंचल

सग्रह के बारे में

'गरुड किसने देखा है श्रीकान्तजी का छठा काव्य-सग्रह है जो उनके स्वर्गीय होन के लगभग एक वर्ष बाद प्रकाशित हो रहा है। इस सग्रह की कुछ कविताएँ हिन्दी की कुछ प्रमुख पत्रिकाओं में पहल प्रकाशित हो चुकी हैं। परन्तु अनेक कविताएँ ऐसी हैं जा यहाँ पहली बार प्रकाशित हो रही हैं। रचनाकाल की दृष्टि से इस सग्रह की कुछ कविताएँ 'मगध क आसपास की हो सकती हैं परन्तु बहुत-सी ऐसी है जो निश्चित रूप से 'मगध के बाद की है। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में श्रीकान्तजी लगातार अपने अगले काव्य-सग्रह के बारे में सोचते रहे थे। परन्तु साथ ही एक दबी हुई आशका भी उन्हें निरन्तर मथ रही थी जिसका हल्का-सा आभास उनकी उस छोटी-सी टिप्पणी में मिल मकता है जो इस सग्रह की अब मगध नहीं होगा शीर्षक कविता के आरम्भ में दी गयी है।

इस सग्रह में कुछ कविताएँ एसी भी दी जा रही हैं जो मूलत कवि की डायरी से ली गयी है। बीच-बीच व डायरी लिखते रहते थे और कई बार डायरी के बीच में ही मानों कविताएँ फूट पडती थीं। सृजनात्मक बेचैनी क ऐसे काव्यात्मक अश उनके अन्तिम दिनों की डायरी के पृष्ठों में बिखरे पडे है। इसीलिए यह उचित जान पडा है कि कविताओं के साथ-साथ कवि की डायरी क कुछ हिस्से भी द दिये जायें। यह इसलिए भी आवश्यक लगा कि डायरी में व्यक्त मनोभावों के साथ इस सग्रह की कविताओं का मूल स्वर कहीं-न-कहीं मिलता है। साथ ही डायरी क कुछ पृष्ठों को पढकर कवि की उस पीडा और मानसिक उथल-पुथल का भी अन्दाज लगाया जा सकता है जिसके बीच इस सग्रह की अधिकाश कविताएँ रची गयी थीं।

— वीणा वर्मा

क्रम

कविताएँ

कविताएँ

बतकही

वैसे तो यह केवल बतकही है
तब भी यह सच है
कि उसने अपनी जिन्दगी गुजार दी सोचते-सोचते
क्या गलत है क्या सही है ?
हजार मारा हाथ-पैर, उबर ही नहीं पाया।

उसने अपना जीवन गँवाया–
औरों ने कमाया।
है ना ?

भाइयो, हमारे ही जमाने में यह हुआ,
दुन्दुभि बजाता हुआ
(निकला तो निकल ही गया–
निर्भय,
नि शक, निर्विकार)।

1984

नियति मौत से डरो

(भुनभुनाता हुआ) यह कहता हुआ हत्यारा गया
यह आदमी इस काबिल नहीं था कि मारा जाय
केवल अनिर्णय में मारा गया ।

घिघिया सकता था
घिघियाया नहीं–
हथियार उठा सकता था
उठाया नहीं ।

कुछ भी बताया नहीं
जिरह भी नहीं की
चुप भी नहीं रहा ।
सहमा भी नहीं
ताव भी नहीं खाया ।
फकत मारा गया
जाहिल नहीं था
सवाल कर सकता था
नहीं किया
जवाब दे सकता था

नहीं दिया
अपनी जगह से उठ सकता था
नहीं उठा
किसी और की जगह ले सकता था
नहीं लिया

काबिल नहीं था,
इसे मारा ही जाना था ।
कोई ऐसे मरता है ?
किसी का इस तरह मरना हत्यारे को
भी अखरता है–

इसलिए भाइयो, जिन-जिनका
नाम रजिस्टर में दर्ज है
उनसे मेरी अर्ज है–
इस तरह मत मरो ।
मौत से डरो ।

1984

बहिर्गमन

बाहर निकलो, श्रमण बाहर
प्रतिस्पर्धा है,
पुरुप है,
लम्बी कतार है–
कतार में
कौन है जो नहीं है ?
नन्द है, मुरा है, शकटार है
और चन्द्रगुप्त है
बाहर ससार है
बहरूप हे
नगी
कामाख्या है
कामरूप है
पुकार है–
अशोक नहीं है, बिम्बिसार है
बाहर निकलो श्रमण बाहर, निकलने का
रास्ता सबको मालूम है
कितना आसान है।

1984

गरुड

गरुड के विषय में सिर्फ सुना है
गिद्ध को देखा है
जो है
वही है

गिद्धराज आओ–
गरुड की बाट में आँखें पथरा चुकीं।

गरुड के विषय में सिर्फ तीन लोग जानते हैं
विष्णु, लक्ष्मी और व्यास
चौथा कोई नहीं।
(हो तो बतायें)

गिद्धराज आओ–
गरुड अगर था भी तो वापस नहीं आयेगा।

गरुड कभी था ही नहीं
गिद्ध था
जिन्होंने गिद्ध नहीं देखा

उन्हीं के सपनों में
गरुड मँडलाता है
मँडलाने दो
गिद्धराज आओ–
गरुड किसने देखा है ?

1984

मृत्यु

मृत्यु ने मुझे
मृत्यु के हवाले कर दिया है।

1984

जिसे आना चाहिए था

जिसे नहीं आना चाहिए था
आया
पतझड
दोस्तों को देखा
निरीह होते हुए ।

जिसे नहीं आना चाहिए था
आया
बैशाख
दोस्तों को देखा
पहाड ढोते हुए ।

जिसे आना चाहिए था
नहीं आयी
वर्षा
दोस्तों को देखा
रोते हुए ।

1984

छीनाझपटी

छीनाझपटी है
किसलिए ?
सुनो, भाई, सुनो
तुम्हें कभी नहीं देखा पहले छीनाझपटी में ।
तुम तो सुनो ।

क्या चाहते हो ?
पाने को सिर्फ कपिलवस्तु ही नहीं है
किसके लिए व्यग्र हो ?
विंध्याचल पार कभी
दक्षिण गये हो ?
लंका जल रही है ।

उत्तर को लौटो
हस्तिनापुर की विधवाओं का विलाप सुन
छाती फटती है ?

श्रावस्ती, उज्जयनी, कौशल

या फिर सन्नाटा जिसमें सिर्फ बरगद उगता है,
फैलता है, बूढा होता है–
दाढी पर हाथ फेर,
कपिलवस्तु, कपिलवस्तु जपता है ।

मुडकर देखो–
चन्द्रगुप्त गुजर रहा है
बिम्बिसार मृत्यु से डर रहा है
प्रियदर्शी शोक में डूबा हुआ है
स्कन्दगुप्त जय-पराजय
दोनों से ऊबा हुआ है ।

सब कुछ
हो चुका है
क्या होना चाहते हो ?

1984

पितामह

पितामह बाणों की शय्या पर पडे हैं
कोई नहीं, सिर्फ कुछ
बचे-खुचे खडे है
जो पूछते हैं,

पितामह क्यों अडे है ?
निर्णय हो चुका, हार चुके युद्ध
अब तो लिखनी भी शुरू कर दी व्यास ने महाभारत
अब किस सोच में पड़े है
व्यास इन्हें समझाओ।

व्यास ने कहीं नहीं कहा
कि हारने के बाद भी पक्ष मत बदलो
हार को स्वीकार करो
कुशासन पर भीष्म की तरह
मृत्यु का इन्तजार करो।

व्यास ने कहीं नहीं कहा
कि युद्ध में सत्य मारा नहीं जाता
कहा होगा व्यास ने पर व्यास का

कब कहा व्यास ने कि
जो लिखता है महाभारत पक्षधर नहीं होता।

1984

अरुण इत्यादि

मैं यह समझता था कि कोई नहीं आता
आते हैं
अरुण इत्यादि

मैं यह समझता था मैं जो करता हूँ
कोई नहीं करता
करते हैं
अरुण इत्यादि

मैं यह समझता था मैं ही अभिमन्यु हूँ
और हैं
अरुण इत्यादि

मैं यह समझता था मैं ही रह गया हूँ
हैं
अरुण इत्यादि ।

1984

माया

माया तू पहले मेरी थी—
उत्तमचन्द अटारीवाला
जिसने सोने के पिंजरे में
मूँगे की चिड़िया को पाला
केवल इतना ही कहता है।

वैसे तो वह चुप रहता है
क्या प्रमाण है ? है कोई
जिसने माया को
अमरचन्द के घर देखा है ?
घर उत्तमचन्द का है
या माया का घर है ?
उत्तमचन्द को इस टण्टे में
घर के बिक जाने का डर है
डर के मारे दुख सहता है
केवल इतना ही कहता है
माया तू पहले मेरी थी।

मान लिया माया उसकी थी

उत्तमचन्द की होने के पहले
किसकी थी ?
जिसकी भी हो क्या कहता है
सुनो, उसे देखो
क्या वह भी
उत्तमचन्द-सा दुख सहता है ?
सहता है तो उत्तमचन्द है
अगर नहीं
तो यह उसकी अपनी पसन्द है।

1984

नींद

नींद आती है, नींद छा जाती है, नींद खुलती है
नींद के अपने नियम हैं

नींद को छप्पर की तरह हाथ पर उठाये हुए
रात आती है, रात छा जाती है, रात ढलती है
रात के अपने नियम हैं।

किसी-किसी को नींद नहीं आती
  कोई रात को बुलाता है
    एक जागता है
दूसरा सारा दिन भागता है
    एक झींकता है
    दूसरा चीखता है
एक कहता है नींद हराम है
  दूसरा रात का गुलाम है
एक बिस्तर पीट रहा है
दूसरा अपने पैर घसीट रहा है

एक को रात जागने के लिए छोड़ गयी है
दूसरे को रात टूटने क लिए जोड़ गयी है

नींद आती है, नींद छा जाती है, नींद खुलती है
नींद को छप्पर की तरह हाथ पर उठाये
रात आती है, रात छा जाती है, रात ढलती है

नींद आँख खुलने पर जवाब माँगती है
रात-भर का दिन-भर का हिसाब माँगती है
नींद को बोला क्या जवाब है
रात को दिन का क्या जवाब है हिसाब है ?

नींद आँखों की किरकिरी थी, रात सिरफिरी थी ।
नींद को जब नहीं आना चाहिए था आयी, रात परायी

किसी ने नहीं कहा तो हम सही वक्त पर आये
कोई नहीं आया सही वक्त पर

नींद के पलने
रात कितनी जल्दी आती है, रात कितनी देर से
कटती है
नींद कितनी देर से आती है, नींद कितनी जल्दी
जल्दी खुलती है ।

1984

इन्द्रजाल

मुझे मृत्यु ने दबोचा
मुँह दबाये कुछ देर खपरैल-खपरैल चलती रही।
दर्शकों ने सोचा
गया

मगर तभी मृत्यु ने बिना किसी वजह
मुझे छोड़ दिया,
छोड़ा तो क्या मुँह से गिरा दिया
दर्शकों की करुणा निराशा में बदल गयी
भीड़ छँटने लगी—
मैंने पुकारा
रुको।
मगर फिजूल।
मैंने आवाज़ दी—
अरे भई सुनो।
मगर फिजूल।

मैंने हाँक दी
सुना तो सभी।
मगर फिजूल।

[illegible]

मैंने कहा–
सुनो तो भाइयो! मैं अभी
मरा नहीं हूँ
यह वही है कि मृत्यु के मुँह से
बच निकला
पर मरा नहीं है।
मगर फिजूल!
तब मैंने कहा,
रुको, अभी खेल खत्म नहीं हुआ है।
दिखाता हूँ–
रुक गये पैर।
अपने और गैर
दोनों मेरी ओर मुड पड
मैंने कहा
सबको मरना है
यह सुनते ही भीड
मुझ पर झपट पडी

समझा, मृत्यु मुझे मरने के लिए
छोड गयी है।

1984

मुक्तिबोध की मृत्यु

नहीं भी होती मुक्तिबोध की मृत्यु
तो भी कोई फर्क नहीं पडता
मुक्तिबोध को मरना ही था ।

सितम्बर में हुई मुक्तिबोध की मृत्यु
दिसम्बर में होती
ता भी कोई फर्क नहीं पडता
मुक्निवोध का मरना ही था ।

वहाँ तक ले आयी थी मृत्यु मुक्तिबोध को
जहाँ तक वह पहुँचे
मुक्तिवाध को मरना ही था ।

पूछ रह थे मुक्तिबोध
मृत्यु का पता
मुक्निवाध को मरना ही था ।

मृत्यु मुक्निवाध के प्रारब्ध में थी ।

1984

इस तरह नगर की नींव पडी

जो कहीं नहीं जा सकते थ वे वहीं रह गये कहो तो
वहीं खप गय
अकेले-दुकेले समूह में
पर वैसे अकेले–
इस तरह नगर की नींव पडी ।

नगर में शान्ति है, नगर में सुख है, नगर मे
कवल नागरिक हैं–
जो नगर छोड कहीं नहीं जायेंगे, वहीं खप जायेंगे
अकेले-दुकेले या
समूह में
पर वैसे अकले

नगर पर किसका कब्जा हो, हमको क्या ?
नगर को लेकर जो भी लड रहे हों, हमको क्या ?
कुछ भी हो नगर का नाम, हमको क्या ?
नगर तो है
नगर में क्या नहीं ?

नगर है, नागरिक है, नगरवधू है—
समूह में ।
इस तरह नगर की नींव पडी ।

1984

यहीं

यहीं बुद्ध न भिक्षा माँगी
यहीं बुद्ध
भिक्षा माँगेंगे

यहीं
बुद्ध न दुख को देखा
यहीं
बुद्ध
दुख को देखेंगे

यहीं बुद्ध न मन का जीता
यहीं बुद्ध
मन को जीतेंगे।

यहीं बुद्ध न
आँखें मूँदीं
यहीं
बुद्ध आँखें मूँदेंगे
कब आयेंगे बुद्ध ?

1984

आनन्द

आनन्द
मनुष्य न पैदा होता है
न मरता है
सिर्फ गुजरता है

बेमतलब सँवरना
बेमतलब
सँवरता है।

आनन्द
मनुष्य अपनी छाया से
डरता है

तुमने
देखा है उसे
जो
इच्छा नहीं रखता
सग्रह
नहीं
करता

प्रिय है या नहीं तुम्हें ?
कुएँ में अपनी
छाया नहीं देखता
पानी
भरता है।

1984

कन्नौज में क्या नहीं ?

कन्नौज में क्या नहीं ?
रहने को घर है
आवागमन को सडक है
दोनों ओर वृक्ष हैं
जो झरते अवश्य हैं
पर कौन-सा वृक्ष है
जिसके पत्ते
नहीं झरते ?

स्त्री-पुरुषों की छटा है
कोलाहल है,
हर्ष है,
किलकारी है
कन्नौज की बलिहारी है
शासकों के लिए
आमोद और प्रमोद है
ब्राह्मणों के लिए भोज है
जो इधर से गुजरता है
गर्व से करता है

भैया ! यह कन्नौज है !
कन्नौज में क्या नहीं ?
फिर क्यों कन्नौज खाली हो रहा है
फिर क्यों लोग
एक-एक कर, कभी-कभी सदल
कन्नौज छोड रहे हैं ?
क्या हुआ ?
क्या कन्नौज पर अकाल की छाया आ पडी ?
या पण्डितों ने कन्नौज के
भविष्य को लेकर
कुछ कहा !
ऐसा कुछ नहीं

अधूरी कविता, 1985

अवन्ती है, अवन्ती रहेगी

है तो अवन्ती में
गायक, मूर्तिकार, कवि
क्या कर रहे हैं वे ?

राजन । कहते हैं वे
अवन्ती रच रहे हैं
यह कहकर
मृत्यु से बच रहे हैं
कि प्रक्रिया समाप्त नहीं होती
अवन्ती है, अवन्ती रहेगी ।

राजन । बात मेरी समझ में
नहीं आयी —
मिथिला क्यों नहीं थी ?
मिथिला क्यों नहीं है ?

1984

तृष्णा

तृष्णा थी जिसने तोडा
बसन्तसेना को
तृष्णा है, जो तोडेगी
बसन्तसेना को
छोड नहीं पायी
बसन्तसेना
तृष्णा ऐसी ही होती है –

तृष्णा से बचो –
सम्भव हो
तो,
अपने से भी
तुम भी गिडगिडा रहे थे,
बसन्तसेना ।
बसन्तसेना ।

1984

तक्षशिला

किसी ने विरोध नहीं किया
किसी ने शिकायत नहीं की
पत्ता तक नहीं खड़का
आम्भी जा मिला ।

ठीक ही तो हुआ
युद्ध टल गया
कोई मारा नहीं गया
सुनायी नहीं पड़ा विलाप
ब्राह्मणियाँ खुश हैं कि ब्राह्मणों की
दक्षिणा में कमी नहीं हुई
वैश्य जो सुखी थे सुखी हैं
क्षत्रियों को सोचने की फुर्सत ही कब मिली
अछूता नहीं रहा जब गंगाधर
क्या फर्क पड़ता है सलामत है तक्षशिला

ठीक ही तो हुआ
पत्ता नहीं खड़का ।
आम्भी जा मिला ।

1985

गगा स्मृति का पर्याय

भाइयो,
कवियो या न-कवियो
क्या यह सच नहीं
तुम्हारी स्मृति या तो गगा होगी
या
नाली होगी
कविता कविता होगी
नहीं होगी
तो
गाली होगी
जो भी हो
स्मृति का लेकर
बहस मत करो
याद रखो
बहस भी तभी तक
जब तक
स्मृति है।
इसके बाद ?
मणिकर्णिका।

9 जनवरी 1986

अश्वत्थामा

युद्ध हुआ तो मुझको ही मारा जाना है
नहीं हुआ तो मुझको ही मारा जाना है
उस युग में मुझको कहते थे अश्वत्थामा
क्या कहते हैं अब जब सबकुछ बदल गया है
अश्वत्थामा ट्रक के नीचे कुचल गया है।

1985

विदेह

तुमसे क्या कहा विदेह ने ?
जानने को आतुर है, प्रजा,
क्या कहा विदेह ने ?
कुछ कहा भी या नहीं ?
बोलो, बन्धु, बोलते क्यों नहीं ?

विदह स्वस्थ तो है ? सुखी
तो है ? प्रसन्न तो है ?
या खिन्न है, दुखी है
अस्वस्थ है ?
प्रजा, जानने को आतुर है
कैसे है, विदेह।

जो है उनके विषय में,
जो नहीं रहे उनके विषय में ?
उनका कहना अर्थ रखता है।
बोलो, बोलते क्यों नही ?

क्या कुछ नहीं कहा विदेह ने ?

क्या हाल भी नहीं पूछा किसी का
विदेह ने ?
क्या यह भी नहीं कहा,
प्रजा सुखी रहे।

तो सुनो,
सच सुनना चाहते हो,
ता सुनो,
विदेह नहीं रहे।

जनवरी 1986

अश्वघोष

बन्धु अश्वघोष
मैं समझा नहीं मतलब
मैंने जिसके चेहरे पर हँसी देखी थी
उसी को
बिलखता देख रहा हूँ,
जिसे सुना था गर्व से
कहीं,
विपुल है, सुख।
देख रहा हूँ वही
शोकाकुल
लौट रहा है।
मैं समझा नहीं मतलब।
सुनो बन्धु,
मैं अश्वघोष नहीं,
मैं वही हूँ
तुमने जिसके चेहरे पर
हँसी देखी थी,'
फिर उसी का देखा बिसूरते,
जो गर्व से कहता था,

सुखी हूँ
फिर कहने लगा,
धोखा था।
मै वही हूँ और अगर मै अश्वघोष भी होता
तो क्या होता ?

यहाँ के लागों की यही तो खूबी है
ये सीढियों पर चढते हुए
हँसते है,
ठठाते है,
सीढियाँ उतरते हुए
आँसू बहाते है
कभी स्वय को
कभी सीढियों को
गरियाते है।

यहाँ के लोगों का कहना है कि
यहॉ के लोगों की यही तो विशेषता है
वे जन्म लेते है, चहचहाते हैं,
आँखें लडाते है
चौपट बिछाते
जब तक वे लिप्त हों,
कैसी विडम्बना है मित्र,
जब तक वे लिप्त हों
तब तक अवधि समाप्त,
वे चौसर उठाते हैं,
आतकित होते,

घबराते हैं,
यह पूछने के बदले मैं कौन हूँ ?
वे हर आने-जानेवाले से
पूछते हैं, कौन हो तुम ? कौन ?
हडबडाते हैं।
लडखडाते हैं,
दरवाजे भडभडाते हैं।

अब तुम्हीं सोचो,
मैं नहीं होता अश्वघोष,
तो क्या तुमसे नहीं पूछता,
कौन हो तुम ?

जनवरी 1986

डायरी का पन्ना - 1

(26 सितम्बर 1985 बृहस्पतिवार / नयी दिल्ली)

कुछ का व्यवहार बदल गया । कुछ का नहीं
बदला ।
जिनसे उम्मीद थी नहीं बदलेगा
उनका बदल गया ।
जिनसे आशंका थी,
नहीं बदला ।
जिन्हें कोयला मानता था
हीरों की तरह
चमक उठे ।
जिन्हें हीरा मानता था
कोयलों की तरह
काले निकले ।

सिर्फ अभी रुख बदला है आँखें बदली हैं
रास्ता बदला है ।
अभी देखो
क्या होता है
क्या-क्या नहीं होता ।

अभी तुम सडकों पर घसीटे जाओगे,
अभी तुम घसियारे पुकारे जाओगे,
अभी एक-एक कर
सभी खिडकियाँ
बद होंगी
और तब भी तुम अपनी
खिडकी खुली
रखोगे,
इस डर से कि जरा भी अपनी
खिडकी बद की तो
बाहर स एक पत्थर,
एक घृणा का पत्थर,
एक ईर्ष्या का पत्थर,
एक हीनता का पत्थर,
एक प्रतिद्वन्द्विता का पत्थर,
एक विस्मय का पत्थर,
एक मानवीय पत्थर,
एक पैशाचिक पत्थर,
एक दैवी पत्थर,
तुम्हारी खिडकी के शीशे तोडकर जायेगा
और तुम
पहले से अधिक
विकृत नजर आओगे,
पहल से अधिक
बिलखते-बिसूरते दिखायी पडोगे,
जैसा तुम नहीं दीखना चाहते
दिखायी पडोगे ।

यह कोई पहली बार नहीं है
जब तुम्हें मार पडी है
कम-से-कम तीन तो
आज को मिलाकर
हो चुके,
मतलब है तीन बार,
मार ।
और ऐसी मार कि तीनों बार
बिलबिला गया –
निराला की कविता याद आती है
"जब कडी मारें पडीं,
दिल हिल गया ।"

पेरिस में स्त्रियाँ

पेरिस में स्त्रियाँ है, चारों आर,
उपभोग्या स्त्रियाँ,
और पुरुष का आहार करनेवाली स्त्रियाँ,

वे स्त्रियाँ कहीं गयीं नहीं हैं,
वे यहीं है
पिगॉल में, मोलारूज में
साँ एलिजे में
पेरिस क प्रत्येक कहवाघर में,
सडक पर,
बॉर में,
टबक में,
पेरिस में ।

पेरिस में सिर्फ स्त्रियाँ है,
स्त्रियाँ कविताएँ है,
स्त्रियाँ,
पिकासो की घनाकार,
घूमती,

थिरकती,
बैठी हुई स्त्रियाँ है,

स्त्रियाँ है,
इसलिए पेरिस है,
पेरिस है,
इसलिए स्त्रियाॅ है,
स्त्रियाँ
स्त्रियाँ है ।

3 जुलाई 1985 / परिस

लन्दन से क्या वास्ता

जैन ऑस्टन
शार्लेट ब्राण्ट,
थैको
चार्ल्स डिकेंस के उपन्यास
मैं इन तमाम उपन्यासकारों और
कवियों की रचनाएँ
पढता,
बडा हुआ।
जरा-सी झलक, और स्मृतियाँ
हरी हो जाती हैं,

वर्तमान को झेल सकना
दिन-ब-दिन
कठिन होता जा रहा है,
मैं अपने बचपन में
जवानी के दिनों में
अतीत में
वापस लौट जाना
चाहता हूँ।

मैं रंग-रूप-गंध को अपने
जीवन में पुनर्स्थापित
करना चाहता हूँ,
मैं उन दिनों को लौट जाना चाहता हूँ,
जब
दिन कट जाते थे
धूप में पलते-पढ़ते,
रातें,
किस्से गढ़ते-गढ़ते।

मैं,
अब घर जाना चाहता हूँ।
लन्दन से क्या वास्ता?
वास्ता है—
उन पात्रों, चरित्रों, दृश्यों से
जो मेरे मन में
घूम रहे हैं
आज लन्दन की बारिश में
उस सबकी,
जो पढ़ा है
याद ताजा हो आयी।

4 अक्टूबर 1985 / लन्दन

डायरी का पन्ना - 2

(3 नवम्बर 1985 नयी दिल्ली)

राजनीतिज्ञों ने मुझे पूरी तरह भुला
दिया।
अच्छा ही हुआ।
मुझे भी उन्हें भुला देना चाहिए।

बहुत-से मित्र हैं, जिन्होंने आँखें फेर
ली हैं,
कतराने लगे हैं —
शायद वे सोचते हैं
अब मेरे पास
बचा ही क्या है ?

मैं उन्हें क्या दे सकता हूँ ?
और यह सच है
मैं उन्हें कुछ नहीं दे सकता।
मगर कोई मुझसे
मेरा 'स्वत्व' नहीं छीन सकता,
मेरी कलम नहीं छीन सकता

यह कलम
जिसे मैंने राजनीति के धूल-धक्कड के बीच भी
हिफाजत से रखा,
हर हालत में लिखता रहा —

पूछो तो इसी के सहारे
जीता रहा,
यही मेरी बैसाखी थी,
इसी ने मुझसे बार-बार कहा,
'हारिये न हिम्मत बिसारिये न राम।'
हिम्मत तो मैं कई बार हारा
मगर राम को मैंने
कभी नहीं बिसारा।
यही, मेरी कलम,
जो इस तरह मेरी है कि किसी और की
नहीं हो सकती
मुझे भवसागर पार करायेगी —
वैतरणी जैसे भी
हो,
पार कर ही लूँगा।

सुन्दरता से साक्षात्कार

अब तो उतार दो
यह चेहरा–
मनहूस चेहरा
अब तो
हो जाओ
वह
जो इस सबके पहले तुम थे,
पेरिस की निर्वसन प्रतिमा की तरह–
सीन में मैंने
सबसे पहले 1960 में अपना चेहरा
देखा था,
सबसे पहले क्यों,
एक बार,
पहली बार,
क्योंकि उसके बाद
कभी नहीं देखा वह चेहरा
जो मेरा था।
किसी और का नहीं,
मैंने ही देखा था
वह चेहरा

जो उन तमाम चेहरों को दख रहा था
जो मलार्मे बॉदलेयर, इम्बो,
अपोलिनायर की कविता से
झाँक रहे थे,
जो बोला और बॉलजक के उपन्यासों में
जड़े हुए थे,

जा लूव्र में कैद थे
वे चेहरे
जिन्हें भुला नहीं पाया--
भुला पाता
तो पेरिस क्यों आता।

बार-बार आता हूँ
ढूँढता हूँ
शायद नहीं ढूँढता
तब फिर क्यों
आता हूँ
दोहराता हूँ।

मैंने ही तो लिखा था,
जो आता है
सिर्फ दोहराता है
मित्रो।
तुम सिर्फ अपने का दोहरा रहे हो
अन्यथा,
कहाँ से आ रहे हो,
कहाँ जा रहे हो ?

22अक्तूबर 1985/ पेरिस

किसे पुकारूँगा

जो भी
अपने अन्दर झाँकेगा
घबरायगा, सिर
चकरायेगा–
अन्दर एक भयानक कुँआ है, बावडी है,
रसातल है,
अथाह अन्धकार है–
जो भी
भविष्य की सोचेगा,
हाथों-पैरों में लकवा
मार जायेगा

भविष्य में
जरा से फासले पर मृत्यु है–
मृत्यु की, कवियों ने, कितनी
कल्पनाएँ की है,
मगर सबका सुख रोमाण्टिक–

मृत्यु भयानक है,

जीवन का अन्त है,
माया ही सही,
मगर कितना लुभावना, कितना सरस,
निरर्थक होते हुए भी, सार्थक है,
यह ससार ।

मगर कैसे न सोचूँ
चाहकर भी तो भुला नहीं पाते
हम भविष्य को,
अपने आप को ।
इसलिए
तैयार रहो,
आगे और भी चकरायेगा सिर,
आगे
और भी निहत्थे, नि सग
निर्बल होते जाओगे–

किसे पुकारूँगा
कौन आयेगा ?

18 अक्टूबर 1985 / न्यूयॉर्क

डायरी का पन्ना– 3

(16 नवम्बर 1985 / शनिवार / नई दिल्ली)

ऑक्टेवियो पॉज के लिए हम सब एकत्र हुए मेरे घर। अज्ञेयजी ने कहा तीन कवि मिलकर एक कविता लिखें। कविता लिखी गयी। अज्ञेय ऑक्टेवियो पॉज और मैं। शुरुआत पॉज ने की थी। फिर अज्ञेयजी ने लिखा फिर मैंने। फिर इसी क्रम में

1 "मैत्री नदी है, मैत्री मुद्रिका है।" (पॉज)

2 "नदी मुद्रिका में से बहती है
मुद्रिका नदी का द्वीप है।' (अज्ञेय)

3 "नदी के पहले नदी होती है, नदी के बाद
सिर्फ नदी।" (श्रीकान्त वर्मा)

4 "पहले और बाद इसी भेद को
मैत्री मिटाती है।' (अज्ञेय)

5 "कैसे मिटेगा ? मुद्रिका काल के हाथों
लेती है आकाश।" (पॉज)

6 मैत्री काल को मिटाती है। मुक्त करती है।
मैत्री नदी है बहती है कगारें बनाती है।" (अज्ञेय)

7 "हम स्मृति और विस्मृति के बीच जीते हैं,
यह क्षण अविराम समय पर
धावा करता हुआ द्वीप है।' (पॉज)

8 बालू पर ढूँढते अपने पगचिन्ह
चीखते हैं लोग, नदी ओ नदी,
नदी तुम कहाँ हो ? (श्रीकान्त वर्मा)

मुझे क्षमा करो

मैं जीवन-भर बेवजह झूठ बोलता रहा,
अपने विवेक के विरुद्ध किया,
स्वय पर भरोसा न कर, औरों के आगे गिडगिडाता रहा–
मैं खुद को एक गिरा हुआ आदमी
मानता हूँ,
मगर कुछ लोगों को देखकर मैं हैरत में पड जाता हूँ,
उनके गिरने की कोई सीमा ही नहीं
वे हत्यारे ही नहीं,
चोर उचक्के डकेत
होमोसैक्चुअल
ह्रेट्रोसेक्चुअल
रैपिस्ट है,
उनके जीवन में सत्य का,
पश्चाताप् का एक क्षण
नहीं आया
और वे सब-के-सब, राजनीति में है–
जब मै उन्हें दखता हूँ
तो कहता हूँ,
मैं उनसे बेहतर हूँ

मगर यह कहना कितना बेमतलब है—
क्या हम गिरे हुओं से अपनी
तुलना कर स्वय को उठा हुआ
करार देंगे,
मैं बोनों के कन्धों पर चढ़कर
महान नहीं होना चाहता,
मित्रो,
मैं महानों के चरणों पर गिरकर कहना चाहता हूँ—
मैं अधम हूँ,
मुझे क्षमा करो।

19 नवम्बर 1985

काशी के पण्डित

काशी के पण्डित काशी के पण्डित हैं, जोड नहीं
अब देखो न,
व्याख्या कर डाली धर्मयुद्ध की ।

पहले की जाती तो क्यों मारा जाता दुर्योधन ?
क्यों कर्ण ?
मैं पूछता हूँ लिखा ही क्यों जाता महाभारत ?

जो भी, जैसी भी हो,
साफ कहे देता हूँ नगरवासियो, देशवासियो --
मुझे स्वीकार्य नहीं
व्याख्या धर्मयुद्ध की ।

अब कैसा धर्मयुद्ध, निहत्थों पर जिसमें
हथियार नहीं उठेगा ?
तब किस पर उठेगा हथियार !
निहत्थों पर उठने के लिए ही
बने हैं हथियार ।

1985

गान्धार

गान्धारों में से एक हुई थी
गान्धारी
जिसे दीखता था सबकुछ
सिर्फ नहीं दीखता था गान्धार
यद्यपि गान्धार
हस्तिनापुर से इतनी दूर नहीं
कि हस्तिनापुर जहाँ
चर्चा होती है हरेक की
गान्धार की न चर्चा हो, न पूछ, न व्यवहार।

सच तो यह है कि
सभी की आँखों में जलन थी
एक ने देखा दूसरे को
और दूसरे की आँख सुलग उठी
दूसरे की नहीं तो पहले की
सभी की आँखों पर
मकडी का जाल था
वैसे यह सच है कि कोई
अन्धा न था

और यह भी कि उन्हें
हस्तिनापुर भी नहीं दीखता था।

और अगर आया भी कभी
प्रसग गान्धार का तो
लोगों ने कन्धा उचकाया
कहाँ है गान्धार ?

तब भी क्या वे
रही नहीं करते
जो उन्होंने किया
स्वय और
दूसरों के साथ ?

मित्रो,
हस्तिनापुर के साथियो,
अगर पूछाग
कहाँ है गान्धार ?
तो कभी-न-कभी
मिलेगा उत्तर
हस्तिनापुर में।

आज नहीं उस दिन जानोगे
तुम, कहाँ है गान्धार
जब यह अनुभव होगा
हस्तिनापुर के लिए
व्यर्थ है विलाप
कोई नहीं सुनता
पुकार।

1985

मगध में सन्नाटा

महाराज बधाई हो – कोई नहीं रहा –
किसी का नहीं बख्शा काल ने
श्रावस्ती की कमर उजड़
चुकी
कौशाम्बी विधवा की तरह
सिर मुँड़ाये
खड़ी है

कपिलवस्तु फटी-फटी
आँखों से
सिर्फ देख रहा है
अवन्ती
निर्जन है
काशी में शवों का हिसाब हो
रहा है
और मगध में ?
मगध में सन्नाटा है।

क्षमा करें
महाराज
आप नहीं समझेंगे
यह
कैसा सन्नाटा है।

1984

मणिकर्णिका के नीचे मणिकर्णिका मिलेगी

क्यों कराह रहे हो ?
कोई उपचार तुम्हें मणिकर्णिका से
नहीं बचा सकता।
क्यों भूलने की कोशिश कर रहे हो ?
कोई भी विस्मृति
यथार्थ पर पर्दा नहीं डाल सकती।
क्यों फावड़ा लेकर
खाद रहे हो मणिकर्णिका ? क्यों
चिल्ला रहे हो,
मैं रहने नहीं दूँगा
तुझे,
मणिकर्णिका ?
व्यर्थ है,
मित्रो
व्यर्थ।
मणिकर्णिका के नीचे
मणिकर्णिका
मिलेगी
और उसक भी नीचे

मणिकर्णिका,
हम खोद ही तो रहे हैं
तबसे हमने सीखा है
फावड़ा
चलाना
जब से यह जाना
कि
शव है
हर बार पाया
मणिकर्णिका।

9 जनवरी 1986

1जनवरी 1986 बुधवार / नयी दिल्ली ।
मगध' की रचना के डढ़ साल बाद आज
साल के पहले दिन लिखी गयी मेरे अगले
कविता-सग्रह की भूमिका
बशर्ते कविताएँ लिखी गयीं ।

अब मगध नहीं होगा

जो आगे निकल गये
हँसते हैं,
मगध पीछे रह गया ।
जो पीछे रह गये
हाँफते हैं,
आगे है, मगध, अभी
आगे है ।

मगध हो चुका ।
मगध को होना है ।
मगध था ही नहीं ।
मगध कैसे होगा ?

तो क्या हुआ ?
यह भी सम्भव है
मगध हो रहा हो,
हमीं बेखबर हैं ।

और यह भी
तो सम्भव है
मगध भुला दिया जाय

और भी तो है —
देखो तो अवन्ती
कैसी सजी हुई है ।
है न ?

और चम्पा ?
चम्पा का क्या कहना ।
शान ही निराली है
देखो, देखो, देखो
देखो ?
वैशाली है ।

मैंने कहा था
सिर्फ आम्बपाली है ।
सच नहीं है ।

और भी है ।
भूल जाओ ।
कभी सोचा है तुमने

रात आज उतनी ही काली है,
जितनी कल थी।

मगध पर मगध, पर मगध, पर
तह जम चुकी है
अब मगध नहीं होगा
जो होगा
मगध नहीं होगा

स्मरण नहीं ?
क्या कहा था चन्द्रगुप्त ने
सब होगा, मेरे बाद,
सिर्फ चन्द्रगुप्त
नहीं होगा।

शिव जो स्मरण आते हैं और शिव जो स्मरण नहीं आते

मित्रो
मत भूलो,
शिव अकेले हैं
जिनमें
जहर पीने की क्षमता है
और जो
पिये जा रहे
हैं
जहर।

तुमने पिया है, जहर ?
तो पियो,
तुम पाओगे
तुम्हीं हो शिव

सच तो यह है
मित्रो
जहर पीकर भी
सभी शिव नहीं होते

और यह कि
जहर पिये बिना
कोई
शिव नहीं होता ।

9जनवरी ˝ 1986

डायरी का पृष्ठ - 4

(शुक्रवार 4 जनवरी 1985 / नयी दिल्ली)

अभी तुम पर न जाने कितनी मुसीबतें
आयेंगी।
अभी तुम पर न जाने कितने पहाड
टूटेंगे।
अभी तुम स्वय को न जाने कितना
कोसागे।
अभी तुम न जाने किस-किसको दोषी ठहराओगे।
अभी न जाने कितनी बार प्रतिज्ञाएँ करोगे,
शपथ उठाओगे और उन्हें भग करोगे,
हलफनामें जलाआगे,
अभी न जाने कितनी बार सिसिफसब
की तरह ऊपर जाने की कोशिश
करोगे, लुढकोगे, अपने पख
झुलसाओगे।
अभी न जान कितनी बार उद्यम
करोगे और नतीजा नहीं
निकलेगा।

अभी न जाने कितनी बार पाप के दलदल
में फँसकर छटपटाओगे, उबरोगे
ओर पाओगे कि तुम एक और
दलदल में आ पहुँचे।
अभी न जाने कितनी बार
मरणान्त पीड़ा से गुजरोगे,
हर बार मृत्यु से बच निकलोगे और
इसके पहले कि राहत की साँस लो या
कहो, धन्यवाद, एक और मरण
हाथ में कँटीले गुलाब की तरह प्रश्नचिन्ह
लिये आ खड़ा होगा और कहेगा, लो
यह रहा मैं।

तुम इसी की तो प्रतीक्षा कर रहे हो
यह दिन कभी नहीं आयेगा।

1985

इन्द्रजाल

श्रावस्ती नगर में देवदत्त ब्राह्मण
मारा गया

यवन नहीं
शूद्र नहीं
दस्यु नहीं,
देवदत्त ब्राह्मण देवदत्त ब्राह्मण के हाथों
मारा गया

दोनों देवदत्त थे
दोनों ब्राह्मण थे
दोनों सहोदर थे
दोनों विधुर थे
देवदत्त घर से निकलता था
घर में रहता था

देवदत्त को देवदत्त
देवदत्त देवदत्त को
देवदत्त
कहता था।

एक दिन देवदत्त बोला देवदत्त से
कुँए में पुकारता हूँ

देवदत्त,
देवदत्त । देवदत्त कुँआ
देवदत्त तू एक कुँआ है सिर्फ गूँजता है

देवदत्त
कुँआ है या देवदत्त
निर्णय को
कुँए में उतर गया

कभी देवदत्त, कभी कुँआ पुकारा गया

श्रावस्ती नगर में
देवदत्त
देवदत्त देवदत्त था या कुँआ ?
1984

डायरी के कुछ पन्ने

वर्ष 1972

11 जनवरी, 1972

मैंने डायरी लिखना दूसरी बार शुरू किया है। पहली बार, दस साल पहले 1962 में मैंने डायरी लिखने का प्रयत्न किया था। कुछ दिनों तक चलने के बाद क्रम टूट गया।

उन दिनों मै एक भयानक मानसिक सकट से गुजर रहा था। जिन्दगी बेमानी लगती थी। चारों तरफ अन्धेरा था।

आज फिर मेरे चारों ओर अन्धेरा है, पहले से कुछ अधिक। आज मै जिस सकट से गुजर रहा हूँ, वह सम्पूर्ण सकट है – बौद्धिक और आध्यात्मिक। बहुत हद तक मेरे व्यक्तित्व (आइडन्टिटी) का सकट है।

दस साल पहले मैंने अपने सकट को सुलझाने के लिए एक के बाद एक कई फैसले लिये थे। मुक्ति का अहसास हुआ था, मगर यह अहसास झूठा था। मैंने जिन्दगी में जो फैसले लिये आज लगता है वे गलत थे।

मै आज पहले से अधिक पराधीन हूँ। पराधीनता अपने आप में कोई चुनौती नहीं। यह अहसास कि मै पराधीन हूँ, वास्तविक चुनौती है। और यह अहसास कि मैं अपनी नियति को बदल सकने में असमर्थ हूँ, और भी तकलीफदह है।

1 फरवरी, 1972

मै पिछले कुछ महीनों से सिगरेट छोडने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

सिगरेट के परिणामों के बारे में सोचकर भय होता है। इन दिनों यह भय बराबर बना रहता है। भय के कारण कुछ भी कर पाना लिखना, पढना असम्भव हो जाता है।

बीच-बीच में कई बार दो-एक दिनों के लिए छोड चुका हूँ। किसी-न-किसी बहाने फिर शुरू हो जाती है।

इस बार एक अजीब बात हुई।

दो दिन पहले मैंने सिगरेट छोडने का फैसला किया। चौबीस घण्टे नहीं पी। दफ्तर पहुँचते ही सिगरेट पीने की इच्छा हुई। एक सहयोगी से माँगकर पी। घर लौटा। बाजार से सिगरट नहीं ली। बिना सिगरेट एक दिन और गुजारा। दूसरे दिन बाहर निकला तो घर से डर लगने लगा। लगा घर लौटूँगा तो एक विशाल सूनेपन से सामना करना पडेगा।

दिन भर अपने से लडता रहा। शाम सिगरेट का पैकेट खरीदा। घर लौटा। लगा अब इतना सूना नहीं लगेगा।

एक बार फिर अपने प्रयास में हार गया। अब अपनी इच्छा पर काबू करने के लिए मैंने एक और उपाय सोचा है। अगले सप्ताह चार-पाँच दिनों की छुट्टी लूँगा। घर में एक भी सिगरेट नहीं होगी। पाँच दिनों में सिगरेट की इच्छा काफी हद तक मर चुकी होगी। इस इच्छा पर फतह कर ही बाहर निकलूँगा।

3 फरवरी, 1972

सुबह मुझे दस्त के साथ थोडा सा खून गया। कुछ कमजोरी लगी। पहले भी – छह महीने पहले ऐसा हुआ था। डाक्टर ने कहा था कोई खास बात नहीं पेट की गर्मी से ऐसा हो जाता है।

मगर मैं अपने बारे में एक शक्की आदमी हूँ। मुझे स्वय को लेकर खासकर शरीर को लेकर तरह-तरह की शकाएँ हुआ करती हैं – पिछले दस वर्षों से यही क्रम है। कभी कैंसर कभी दिल के दौरे कभी कुछ और का सन्देह होता रहता है।

आज सारा दिन मुझे लगता रहा मेरे पेट में घाव (अल्सर) है। और दिन, नरक का एक लम्बा दिन रहा। मृत्यु के भय ने मुझे पूरी तरह दबोच लिया।

मृत्यु का मुझे शारीरिक भय उतना नहीं होता जितना नैतिक। मुझे लगता है मैंने अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियाँ पूरी नहीं कीं ;यदि अकस्मात मेरी मृत्यु हो गयी तो वीणा और मण्टू का क्या होगा? फिर यह ख्याल कुछ तसल्ली देता है कि मैंने 50 000/ का बीमा करा रखा है।

मुझे मृत्यु के इस भय से इस नैराश्य से उबरना चाहिए। और मैं इसके लिए कुछ योजनाएँ बना रहा हूँ।

12 अगस्त 1972

सवेरे आँख खुलते ही अखबार में पढा पालम के नजदीक विमान-दुर्घटना में मिनी माता नहीं रहीं।

दिल और दिमाग का अपने सम्बन्धियों स्नेहियों की मौत से जरूर कोई रिश्ता होता है। रात मुझे तीन बार कै हुई और घबराहट का अनुभव हुआ। यह सब आधी रात के करीब हुआ

ठीक उसी समय मिनी माता की मौत हुई होगी। ऐसा मेरे साथ पहले भी हुआ है। जब भी जीवन में कोई दुर्घटना होने को होती है, मन आशकाओं, डरावने सपनों से घिर जाता है।

सुबह से लेकर दोपहर तक हम दुर्घटना-स्थल पर मिनी माता के शव की तलाश करते रहे। लगभग दो बजे दिन को उनका शव मिला। शरीर कमर के पास से दो टुकडों में बँट गया था। सिर और चेहरे की जगह खोपडी का एक टुकडा और कुछ दाँत थे। पहचान उनकी कलाई के गोदने स की जा सकी। शरीर के नाम पर मास का एक लोथडा मिला।

विमान के सारे यात्री मारे गये थे। एसा भयानक दृश्य मैंने कभी नहीं देखा। चारों ओर, *आसमान में, गिद्ध कौए उड रहे थे। रात-भर जगली जानवर इन शवों का खाते रहे थे।* विमान परिचारिका की साडी का एक टुकडा एक पेड की शाखा पर झूल रहा था। लगता है दुर्घटना के बाद यात्रियों के शरीर दूर-दूर तक जा उडे। कोई भी शव साबुत नहीं था।

जिन्दगी पर मौत की यह अजीब विजय है।

13 अगस्त, 1972

मिनी माता का अन्तिम सस्कार आज दिल्ली में विद्युत् शव-दाहगृह में कर दिया गया।

मेरे जीवन का एक अध्याय शायद सबसे कीमती अध्याय समाप्त हुआ। कितनी यादें मिनी माता के साथ जुडी हुई है।

1956 में दिल्ली आया था। मिनी माता ने न केवल रहने को जगह दी, बल्कि एक ऐसी शक्ति दी जिससे कि मै इस कठिन नगर में कठिन समय में भी, बना रह सका। 1958 में भारतीय श्रमिक बन्द हो गया और मैं बेरोजगार हो गया। पाँच साल बेकार रहा। हर तरह की मानसिक आर्थिक बौद्धिक विपत्तियाँ आयीं। मिनी माता की मदद के बिना इनमें से एक का भी सामना सम्भव नहीं था। कहना चाहिए कि मिनी माता ने मुझे पुनर्जीवन दिया। मै नष्ट हो चुका था। मुझे जरख से मनुष्य बनाया।

मिनी माता की मृत्यु नहीं हुई मै ही मर गया हूँ।

कितने इसानों से मुलाकात हुई कुछ हैवान साबित हुए कुछ दगाबाज। मिनी माता अकेली थीं, जिन्होंने मुझे ठीक-ठीक समझा, मेरी कद्र की मुझे हर बार मौत से बचाया जो मुझे मृत्यु से छुडाकर लाया आज मैं उसी का दाह कर लौटा हूँ।

4 दिसम्बर, 1972

मोहन राकेश नहीं रहे। कल शाम हृदयगति रुक जाने से उनकी मृत्यु हो गयी।

लगता नहीं कि मोहन राकेश नहीं रहे। गुस्से में भरकर सभा से वाक आउट कर जाना उनकी आदत थी। ऐसा लगता है जैसे वह वाक आउट कर गये है।

31 दिसम्बर, 1972

यह सारा वर्ष सघर्ष और निराशा मे गुजरा। कई दोस्त और आत्मीय, गार्डन रोडरमल, मोहन राकश मिनी माता बिछुड गये।

मुझे स्वय बीमारियाँ हुईं। दिनमान ने बराबर परेशान किया। रघुवीर सहाय की बराबर यह कोशिश रही कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो कि मै छोडकर चला जाऊँ। यह अलग बात है कि इसमे उन्हे अब तक कामयाबी नही मिली है।

नया साल कल शुरू हो रहा है। देखा जाये भविष्य के गर्भ मे मेरे लिए क्या है।

वर्ष 1973

4 जनवरी 1973

डाक्टर की सलाह पर मै सुबह सैर को जाने लगा हूँ।

यह एक दूसरी ही दुनिया होती है। रौशनी कुछ और होती है छायाएँ कुछ और होती है। सब कुछ फैटेसी की तरह नजर आता है। छाया और प्रकाश के लीलामय ससार मे इक्का-दुक्का भागते हुए प्राणी स्वप्नलोक के प्राणी लगते है। सारे वातावरण पर प्रकृति हावी होती है। मनुष्य उस समय निद्रालोक से बाहर आ रहा होता है और प्रकृति उसका स्वागत करती स्वय जैसे विदा ले रही होती है।

फिर वही दिनचर्या आरम्भ होगी फिर वही छलावे वही धक्का-मुक्की वही पुकार वही हगामा वही बेमतलब आवाजें।

जब पौ फटती है तब लगता है ससार मे पहली बार सवेरा हो रहा है। मगर थोडी ही देर मे यह ससार एक पुरानी बासी दुनिया मे बदल जाता है।

26 जनवरी, 1973

गणतन्त्र दिवस। कितना बडा षडयन्त्र है गरीब जनता के विरुद्ध। आजादी को पच्चीस साल हो गये मगर आजादी का दिखावा है वास्तविक आजादी नहीं।

जश्न। समारोह। भारत से अधिक समारोही देश कोई नहीं। समारोह में किसी को अकेले होने का वक्त नहीं होता। समारोह की असलियत पर विचार करने की फुर्सत स उसे वचित कर दिया जाता है उसे शामिल कर दिया जाता है। भारतीय व्यवस्था कितनी चतुर रही है।

वर्ष 1984

6 जनवरी, 1984

आज सवेर केन्द्रीय हिन्दी समिति ने अपनी बैठक में मेरा यह सुझाव मान लिया कि हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकों में उर्दू के शायरों और अदीबों की भी रचनाएँ पढ़ायी जायँ।

उर्दू और हिन्दी के बीच की दीवार चाहे वह लिपि का फर्क हो या फारसी और उर्दू का फासला-नकली है।

क्या सिर्फ फारसी की भरमार से एक भाषा उर्दू और सस्कृत की बहुलता से वही हिन्दी बन जाती है? उर्दू और हिन्दी का बहुत-सा साहित्य ऐसा है, जिसमें न फारसी का कठमुल्लापन है न सस्कृत की पण्डागिरी। उसे हम किस भाषा का साहित्य कहेंगे? एक फारसी में लिखी गयी है, दूसरी देवनागरी में। मगर देवनागरी में लिखे को फारसी में लिख दिया जाय और फारसी में लिखे का देवनागरी में, तो कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।

हिन्दीवालों का यह कहना कि उर्दू कोई भाषा नहीं उतना ही भ्रामक है जितना उर्दूवालों का यह कहना कि हिन्दी कोई भाषा नहीं। सच्चाई यह है कि दोनों में स कोई भी उसी हद तक भाषा है जिस हद तक वह एक समान स्रोत से शब्द ग्रहण करती है। इस अर्थ में आधुनिक हिन्दी गद्य और कविता सही अर्थ में भाषा है उन्होंने एक समान क्षेत्र से शब्द ग्रहण किये हैं। शब्द हवा में नहीं पकड़े जाते। वे एक विशेष अनुभवलोक से आते हैं। आधुनिक हिन्दी कवि-कथाकार का अनुभवलोक इस अर्थ में पूरी तरह सिक्युलर है।

16 जनवरी, 1984

आज मेरे विवाह का 17 पूरे हुए। क्या कहा जायेगा – विवाह की 18 वीं वर्षगाठ है। मगर यह बात मुझे याद नहीं आयी – वीणा ने याद दिलाया।

एक अर्से बाद यानि कुछ ही वर्षों में विवाहित होने का अहसास जाता रहता है। थ्रिल समाप्त हो जाता है – रस्मअदायगी रह जाती है। या यह कहा जाय तो ज्यादा सही होगा कि विवाह एक ऐसी सस्था है जिसमें थ्रिल नहीं होता। शायद यह सस्था बनायी ही गयी है आदमी का डक निकालने के लिए।

देअर ऑर मोर प्रिज्म दैन फिक्स।

30 जनवरी, 1984

कविताएँ बहुत वर्षों से रुकी पडी थीं या अन्दर कहीं दबी पडी थीं। अब वे निकल पडी है -- अनायास।

मैं रोज कविताएँ लिख रहा हूँ। एक नये सस्कार को ढूँढ निकाल रहा हूँ, दूसरों के लिए।

अवन्ति मालवा उज्जयिनी भिप्रा चम्पा काशी कौशाम्बी, कपिलवस्तु, कोसल कलिंग वैशाली आम्रपाली वासवदत्ता वसन्तसेना चन्द्रगुप्त बिम्बसार, अशोक अजातशत्रु -- पात्रों चरित्रनायकों नगरों स्मृतियों का एक रेला है जो चला आ रहा है, एक भीड है, जो उमडी पड रही है। यहीं है मेरी कविताएँ। इनका मुख्य सरोकार है मृत्यु, सहार, नैतिक क्षय। इन कविताओं का एक सग्रह दो महीनों के भीतर तैयार कर दूँगा -- जिस रफ्तार स लिख रहा हूँ, उससे तो अभी यही लगता है।

पुस्तक का नाम होगा 'मगध। मैं जानता हूँ, मगध क्या है? कालातीत काल।

4 फरवरी, 1984

स्वाधीनता के विषय में मैं बारबार बराबर बरसों से सोचता रहा हूँ।

कम-से-कम एक बात तय है। सुबह से शाम तक धूप ढलने तक धूप में, बगीचे में बैठा रहा हूँ, लिखूँ या पढूँ, या जो भी करता रहूँ -- मगर इस सारे दौरान न कोई मुझे पुकारे, न कोई मेरे एकान्त में प्रवेश करे। मेरे लिए इससे बडी स्वाधीनता और कुछ नहीं।

रचना महान रचना सिर्फ इसी शर्त पर हो सकती है कि कोई शर्त नहीं।

9 फरवरी, 1984

दो महीनों में मुझे तीसरी बार डायरिया हुआ। यह सब हर रोज ड्रिंक का परिणाम है।

जो भी हो अब भविष्य में शराब नहीं पिऊँगा। जैसे सिगरेट छोड दी वैसे शराब भी नहीं छुऊँगा। वैसे भी यह समय का अपव्यय है। शाम का समय बेहतर कामों में लगाया जा सकता है।

मुझे अभी जीवन में बहुत कुछ करना है। लिखना है। जिसे लिखना है उसे शराब छोडनी होगी।

शराब पीकर हम उम्दा बहस कर सकते है शराब पर एक से एक बढिया नायाब शेर प्रस्तुत कर सकते है अच्छा लिख नहीं सकते।

कम-स-कम अपने लिए मैं यह बात सही मानता हूँ।

22 फरवरी, 1984

फेलिक्स कुजनेत्सोव सोवियत लेखक सघ के प्रथम सचिव हैं। सोद्रोफ कवि, हिमालय पर लिखा है। और मरियम सेल्येनिक भारतीय लेखकों की पुरानी परिचिता दुभाषिया और अध्येता।

कल शाम घर पर उन्हें तथा कुछ भारतीय लेखकों को आमन्त्रित किया।

रूसियों से साहित्य पर चर्चा से एहसास हुआ कि रूसी समाज में एक अनोखा परिवर्तन आया है। अब वे कठमुल्ला साहित्य को स्वीकार करने को कतई तैयार नहीं।

मार्क्सवाद पर भी उन्होंने नये सिरे से चिन्तन आरम्भ किया है।

कुजनेत्सोव ने मुझसे कहा कि मार्क्सवाद एक व्यापक और उदार विचार-सौरभ है। एक तरह स वह वही है जा भारतीय आध्यात्मिकता।

कुजनेत्साव की बात सही भले ही न हो मगर मार्क्सवाद को एक आध्यात्मिक पद्धति के रूप में दखना ही, सोवियत समाज में एक नयी शुरूआत है।

6 जून, 1984 / गुएल्फ, कैनेडा

आज अपराह्न 'हिन्दी समिति का समारोह मेरी अध्यक्षता में गुएल्फ विश्वविद्यालय में आरम्भ हुआ।

तीन आलेख पढ़े गये, पहला विद्यानिवास मिश्र का आधुनिक हिन्दी साहित्य के सरोकारों पर दूसरा राजेन्द्रसिंह का हिन्दी भाषा की निर्माण-प्रक्रिया पर और तीसरा किसी कैनडेयिन विश्वविद्यालय के किसी द्विवेदी का हिन्दी गजल पर।

विद्यानिवास और राजेन्द्रसिंह के आलेखों की स्थापनाएँ महत्वपूर्ण थीं।

विद्यानिवास का आग्रह था कि आधुनिक विशेषकर समकालीन हिन्दी-साहित्य को (उन्होंने उदाहरण कविता से दिये) मानवीय चेतना एव मानवीय सरोकारों के साहित्य के रूप में स्वीकार किया जाय। वह मानवीय है इसीलिए आधुनिक है। आधुनिक होने का अर्थ ही है, मानवीय होना।

राजेन्द्रसिह ने वहुत-से उदाहरणों के जरिए यह समझाने की कोशिश की कि हिन्दी भाषा में कहीं स भी शब्द लेकर उस आत्मसात करने की क्षमता है। दूसर शब्दों में उसमें एक समसामयिक भाषा बने रहने की शक्ति है।

उर्दू के विषय में उन्होंन कहा कि वह कोई भाषा नहीं क्योंकि वह किमी एक समुदाय की भाषा नहीं।

इन मान्यताओं पर दिलचस्प बहस होनी चाहिए थी मगर नहीं हुई।

8 जुलाई, 1984 / भोपाल

मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद द्वारा आयोजित 'रामचन्द्र शुक्ल शती समारोह आज शाम समाप्त हो गया। समारोह कहना मजाक बनाना है। हर तरह के प्रगतिशीलों और जनवादियों का मेला था। दिखावे के लिए कुछ निर्विकार प्रतिमाएँ और प्रतिभाएँ भी थीं।

साबित कर दिया गया कि रामचन्द्र शुक्ल हिंदी के पहले प्रगतिशील थे। किसे प्रगतिशील माना जाये? तुलसीदास को? कबीर को? भारतेन्दु का? प्रेमचन्द को? नहीं नहीं। रामचन्द्र शुक्ल को!

अब अगल कुछ वर्षों तक रामचन्द्र शुक्ल का इस्तमाल छडी की तरह किया जायेगा।

13 जुलाई, 1984 (प्रात) / मॉस्को

आज मेरे पुनर्जन्म की पहली वर्षगाँठ है। पिछले वर्ष ह्यूस्टन में आज ही के दिन डॉ कुली ने मेरे हृदय का ऑपरशन किया था।

यह एक वर्ष निरर्थक नहीं गया। मैंने कविताएँ लिखीं जो बरसो से रुकी हुई थीं। निरर्थक कामों से चित्त हटाया ईश्वर पर लगाया।

ईश्वर तुमने मुझे दोबारा जन्म दिया है यह व्यर्थ नहीं जायेगा। यह तुम्हारी ही वस्तु है तुम्हें ही समर्पित है।

अगल वर्ष और भी सयम से जिऊँगा ताकि और भी रच सकूँ। रचना ईश्वर क निकट पहुँचना है।

13 जुलाई, 1984 (साय) मॉस्को

गोर्की ने लिखा है शायद अगर मैं भूलता नहीं हूँ तो मैं पहली बार तॉल्स्तॉय से मिला तो लगा मैं ईश्वर के सामन खडा हूँ।

आज यास्ना पोल्याना ने मेरा सिर अपनी तुच्छता के अहसास में इतना झुका दिया कि लगता है अच्छा ही हुआ। अब कभी मैं सासारिक दर्प में सिर नहीं उठा सकूँगा।

इतने महान कलाकार सत पैगम्बर की इतनी मामूली समाधि--घास में छिपी हुई मिट्टी स इस कदर सटी हुई कि मिट्टी का मिट्टी से अलगाना कठिन है।

चाहते तो तॉल्स्तॉय अपनी स्मृति में ताजमहल बनवा सकत थे। मगर वह लीला समझत थे। उन्होंने मिट्टी में शरण ली मिट्टी, जो अन्तिम सत्य है।

तॉल्स्तॉय क घर को टूरिस्टों ने रौंद डाला है। मगर क्या फर्क पडता है। वह सर्दी और गर्मी में दिन और रात मुँह बाये स्तब्ध खडा है तॉल्स्तॉय की गैरमौजूदगी में। अभी तो वे यहाँ

तॉल्स्तॉय, पढ रह थ, लिख रहे थे सेक्रटरी को चिट्ठियाँ लिखा रहे थे, पत्नी से झगड रह थे, गोर्की का आतिथ्य कर रहे थे सगीत चारों ओर फैली हुई प्रकृति का सगीत, सुन रह थ। कहाँ गये? कहाँ गये तॉल्स्तॉय। यास्ना पोल्याना स्तब्ध है हतप्रभ है, उदास है मौन है, पर्यटकों के आने से नहीं किसी के चले जाने स।

होटल लौटकर और रास्ते-भर मेरा मन भारी रहा।

स्वामिनाथन ने अकारण नहीं कहा था यास्ना पोल्याना जाना तो मेरी ओर से वहाँ की मिट्टी के मत्थे टिक आना। यही तो कहा रूसी कवि सीद्रोव ने जो सारा समय मेरे साथ रहे– 'हम एक तीर्थस्थान में हैं।

शनिवार / 14 जुलाई, 1984 / लेनिनग्रॉद

लेनिनग्रॉद के साथ कितनी स्मृतियाँ जुडी हुई है कितने उपन्यास, कितनी कविताएँ कितनी दन्तकथाएँ। पुश्किन दॉस्तोएव्स्की, तॉल्स्तॉय के पात्र जॉर और लेनिन। और युद्ध? दूसरा और अन्तिम युद्ध! कितना सहार, कितना निर्माण।

मेरी युवावस्था के मित्र रामकृष्ण श्रीवास्तव की पक्तियाँ याद आती है बार-बार गिर-गिरकर वक्त फिर सम्हलता है / एक दीप बुझता है एक दीप जलता है।

मगर यूरोप में कौन बुझा कौन जला? यूरोप में चिराग दोबारा नहीं रौशन हुआ। यह बॉदलेयर जोला बॉल्जक, मोपाँसा तॉल्स्तॉय दॉस्तोएव्स्की तुर्गनेव चेखव का यूरोप नहीं। यह गेटे और पुश्किन का यूरोप नहीं। वह बुझ गया।

अब तो केवल स्मृतियाँ है सग्रहालय और पुस्तकालय हैं।

आज सवेर मोईका नदी के किनारे 12 नम्बर कमान के आगे पैर ठिठक गय–यहीं तो पुश्किन ने अन्तिम दिन बिताय थ। इसे सावियत रूस की परम्परा ही कहना चाहिए कि एक ऐसी शताब्दी में जबकि लेखक और कलाकार का जीत-जी भुला दिया जाता है यहाँ लेखक-कवि मरकर भी याद किये जाते हैं–रोज-रोज सुबह-शाम। जीवित लेखक भी यहाँ पर्यटक-आकर्षण है, मृत लेखक भी।

मगर जैसा मैंने कहा यह वह यूरोप नहीं–यह कुछ और है। जिस युग मे तॉल्स्तॉय दॉस्तोएव्स्की और गेटे न हों उसमें अगर लेखक भौंचक्का नजर आता है अपने को अधिकाधिक अकेला, हीन और असहाय पाता है तो क्या आश्चर्य?

क्या आज हम गाँधी की अनुपस्थिति में गिरे हुए विवेकानन्द की गैरमौजूदगी में निर्वीर्य और बुद्ध के बिना अमानुषिकता की हद तक क्रूर नहीं हो चुके हैं?

हे ईश्वर! यह कितना भयानक यथार्थ है!

रविवार / 15 जुलाई, 1984 / लेनिनग्रॉद

दिन-भर बारिश होती रही। एक मौन बारिश। जैसे कोई चुपचाप आँसू बहा रहा हो। कौन है, वह? किसकी है यह बारिश?

क्यों यहाँ लोग गुमसुम रहते है? चुपचाप क्यों? कोई यहाँ किसी से वार्तालाप करता दिखाई नहीं पड़ता। हरक अपने में खोया हुआ है सिवाय फिनलैण्ड के उन सैलानियों के जो शराब पीने लेनिनग्रॉद आते हैं।

किसी को लेनिनग्रॉद में हँसते नहीं देखा आलिगनबद्ध होते नहीं देखा। प्रत्येक को अकेले देखा।

शायद वे युद्ध को अब तक भूल नहीं पाये। कौन था जो मारा नहीं गया। जो मारे नहीं गये व छोड़कर चले गये। लेनिनग्रॉद अब तक युद्ध के सकते में है। सारे शहर में एक ऐसा सन्नाटा है, जिसस भय होता है। दॉस्तोएव्स्की के मकान में जाकर यह सन्नाटा और भी बढ़ गया, भयावह सन्नाटा जिसे तोड़कर दॉस्तोएव्स्की ने रचना की स्वय को नष्ट कर डाला और उस सबको भी जो अब तक अपरिभाषय था। जो बीसवीं शताब्दी को समझना चाहते हैं उन्हें उसकी शुरुआत दॉस्तोएव्स्की स माननी चाहिए। दॉस्तोएव्स्की के बगैर उस भयानक अधकार को मानव-मन के अधकार का पहचान सकना कठिन है जिसमें पाप, शाप, अपराध हिंसा घृणा क्षय, नैराश्य और अवसाद पल रहे हैं।

यह एक ऐसा नरक है जिसे सिर्फ बीसवीं शताब्दी के लोग पहचानते हैं।

यह अकारण नहीं है कि इस शताब्दी के साहित्य की पहचान इतनी पृथक है कि पहले के सभी मानदण्ड इस पत्थर से टकराकर चकनाचूर हो जाते हैं।

आज दॉस्ताएव्स्की की एक प्रतिमा देखी एक छोटी-सी प्रतिमा पत्थर की प्रतिमा, जिसे छू-छूकर काल ज्वार की तरह लौट-लौट जा रहा है।

24 जुलाई, 1984 / मॉस्को

लियोनिद लियोनेफ रूस के वयोवृद्ध लेखक। 86 87 साल। गोर्की के समकालीन और मित्र रहे हैं। वनस्पतियों का उनक जैसा शौक मैंने नहीं देखा न ही ऐसी जानकारी और सग्रह। अद्भुत! उन्हे पेडों पौधों पशु-पक्षियों सृष्टि से प्यार है।

आज शाम जब मैं पैराडेल्किनों में उनके डाचा गया तब छुटते ही उन्होंने मुझसे प्रश्न किया तुम्हारा ईश्वर में विश्वास है?

मेर हाँ कहने पर उन्होंने पूछा 'किस तरह के ईश्वर में?'

मैन उत्तर दिया ' एक निराकार, निर्विकार ईश्वर में जो स्वय ब्रह्माण्ड है--सृष्टि से अलग नहीं, सृष्टि है अन्तिम है, नेति है।

लियोनेफ ने मुझे लगभग बीच में काटते हुए कहा, "मगर मुझ, इस तरह के ईश्वर की आवश्यकता नहीं। मुये तो एक ऐसे ईश्वर की जरूरत है जो हर क्षण मेरे जीवन में हस्तक्षेप कर मुझे पाप से बचाये मुझे धर्म पर आमादा करे, मुझे प्रेरित करे मुझे ढाँढस द शक्ति दे आँखें दिखाये गुर्राये पीठ थपथपाये, पुरस्कृत करे, मृत्यु और सहार से विमुख करे। तुम्हारे निर्विकार, तटस्थ उदासीन ईश्वर का मै क्या करूँगा?"

मैने कहा ' मेरी धारणाएँ न केवल मरे अपने बल्कि औपनिषदिक चिंतन पर आधारित है।

लियानफ ने कहा 'मै जानता हूँ। मै भारतीय दर्शन से अच्छी तरह परिचित हूँ। मै तो यहाँ एक सीमित प्रत्यक्ष और दैनन्दिन प्रश्न कर रहा हूँ न कि किताबी। अब देखो आज ही सवेरे मेरे बगीचे में एक मधुमक्खी पानी पर जा गिरी और भीगती हुई, डूबती हुई अब डूबी-तब डूबी होने लगी। मैने उसे पानी से निकाला उडाने की कोशिश की मगर वह बार-बार उडकर धरती पर आ गिरी। मै उसे धूप दिखाता रहा। क्रमश उसके पख सूखने लगे। तब वह अचानक ऊपर उठी, पख झपकाये और लम्बी उडान भरती हुई मेरी हथेली से, सीधे आसमान की ओर छू-मन्तर हो गयी। अब बताओ। मै उसके लिए क्या हुआ? क्या रिश्ता बना, मेरे और उसके बीच? क्या मै उसका ईश्वर नहीं?

लियोनेफ की धारणाएँ ईसाई अनुभव और धर्म से प्रेरित हैं। उनमें तर्क नहीं है मगर गहरी मानवता है। उनमें तुक नहीं है किन्तु एक अपरिभाषित पीडा है।

जब तक वे हमसे बातचीत करते रहे दो बूढ़ी स्त्रिया चाय इत्यादि लाती रहीं।

कुजनेत्सोव ने बताया कि वे दिन में लियोनिद की पत्नी के देहान्त क बाद से, घर का सारा काम कर जाती हैं, मदद के बगैर। वे लियोनिद की पडौसिनें हैं।

कुजनेत्सोव ने यह भी बताया कि लियोनिद स्तॉलिन के प्रिय पात्र कभी नहीं रहे। इसके बावजूद गोर्की उनके अनन्य मित्र थे। गोर्की हर रोज कहीं से उपलब्ध कर उनके लिए एक-न-एक नया पौधा लात थे।

गोर्की नहीं रहे उनके अन्य समकालीन भी नहीं रहे। मगर वे पेड-पौधे और वनस्पतियाँ मौजूद हैं जो उन्होंने साथ लगाये थे। लियोनिद लियोनेफ उनके बीच रहते है उनके सग रहते हैं। इसलिए यह कहना सही नहीं होगा कि लियोनिद लियोनेफ अकेले रहते हैं।

26 जुलाई, 1984 / नयी दिल्ली

रूसियों ने कल मुझे और वीणा को आत्मीय विदा दी। कुजनेत्सोव के घर पर कॉकटेल और रात्रि-भोजन। उसके बाद भरि सैन्नेनिक और दुभाषिया नताशा एयरपोर्ट तक आये और आधी रात तक—जब तक विमान भारत के लिए रवाना नहीं हुआ वहीं रहे।

मॉस्को-दिल्ली सिर्फ छह घण्टे की दूरी है। रूस मुझे एक अलग किस्म का देश लगा, अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं पर अभिमान से भरा हुआ। वैसे वह मूर्ति-पूजा के विरुद्ध है मगर रूस के किसी भी नगर का कोई चौराहा नहीं जिस पर मूर्ति न हो मुख्य रूप से साहित्यकार की।

साहित्यकार का इतना महत्त्व देना उचित नहीं। इतना महत्त्व देने का ही यह परिणाम है कि उनमें से कुछ को दण्डित होना पड़ता है।

31 अक्टूबर, 1984 बुधवार नयी दिल्ली

आज मेरा मन दु:ख से भरा हुआ है। सुबह सवेरे साढ़े नौ बजे किसी ने बताया, इन्दिराजी को गोली मार दी गयी। गोली शायद सवा नौ बजे के करीब मारी गयी थी। मेरा मकान इन्दिराजी के बँगले के पीछे ही है इसीलिए खबर पहुँचते देर नहीं लगी।

मैं सीधे मेडिकल इन्स्टीट्यूट पहुँचा। छोटी-सी भीड़ इकट्ठी थी। मगर किसी को कुछ पता नहीं था। वह किस अवस्था में है। आपरेशन थियेटर में उन्हें रक्त दिया जा रहा था।

लगभग ग्यारह बजे विद्याचरण शुक्ल ने बताया कि धवन का कहना है कि उनकी मृत्यु तत्काल घटनास्थल पर ही हो गयी। मगर कुछ यकीन नहीं हुआ। मैं रुका रहा। थोड़ी देर बाद मैंने नत्थू से पूछा। उसने भी ऐसा ही इशारा किया।

इन्दिराजी को वैसे तो मैं बीस वर्षों से जानता था। 1/9/1964 में जब वह सूचना मन्त्री नियुक्त हुई थीं तब मैं उनसे पहली बार मिला था। मगर मैं निकट आया उनके 1969 में कांग्रेस विभाजन के दौरान जब उन्होंने पार्टी की तथा अपनी लिखा-पढ़ी का काम सौंपा।

कई वर्ष मैंने यह काम किया और 1976 में राज्य सभा के लिए चुने जाने के बाद भी यह क्रम जारी रहा। अब भी उनकी मृत्यु के पहले तक मैं यही काम कर रहा था।

कई बार मैं 15 अगस्त के सालाना जलसे के अवसर पर या कांग्रेस अधिवेशन के समय मुझे उनकी स्पीच लिखने के लिए बुलाया जाता कभी-कभी अनुवाद के लिए। कालान्तर में उनके करीब आ गया था। सहायक-जैसी स्थिति हो गयी थी मेरी। और इस नाते उनके व्यक्तित्व को मैंने बहुत कोणों से देखा और परखा। आज वक्त नहीं है, इस पर बातचीत करने का। कभी लिखूँगा।

1977 में जब वह चुनाव हार गयी थीं तब मैं उन पर लिखना चाहता था। मगर अपनी उथल-पुथल के कारण लिख नहीं सका। और तब लिखता तो चापलूसी मानी जाती। अब जिसे लिखने के लिए मेरा लिखा चापलूसी माना जाता, वह नहीं रहा अब वे क्या कहेंगे।

यह जरूर कहूँगा कि हत्या इन्दिरा गाँधी की आज हुई मगर इस हत्या की रिहर्सल 1966 में उसी दिन आरम्भ हो गयी थी जिस दिन वह प्रधानमन्त्री बनीं। समाचार पत्र, बुद्धिजीवी, भाषाकार राजनैतिक विरोधी, सब इन्दिरा गाँधी के विरुद्ध जहर उगल एक ऐसा माहौल बना रहे थे, जिसमें नाटक का अन्त यही हो सकता था। वे फिर यही करेंगे। पहले भी उन्होंने इतिहास से कोई सबक नहीं लिया, अबकी भी नहीं लेंगे। इस देश के बुद्धिजीवी पेशेवर हत्यारे हैं।

1 नवम्बर, 1984

रक्पात आरम्भ हो गया है। हिन्दू युवक सिखों पर टूट पडे हैं। इन्दिरा गाँधी की हत्या जिन्होंने करायी, शायद वे चाहते भी यही थे। साम्प्रदायिक आधारों पर हिन्दू-सिख विभाजन।

उनकी मनोकामना पूरी हुई। मन पर दु ख की कई परतें पडी हुई हैं। उन्हें हटा नहीं पा रहा हूँ।

2 नवम्बर, 1984

राजीव जी को पार्टी का नेता चुन लिया गया। यह बहुत सही काम हुआ। राजीव सही आदमी हैं और मैं जानता हूँ, वह सही लोगों की सलाह से चलेंगे। अभी वक्त ही कहाँ मिला, सारी स्थिति पर विचार का।

बुजुर्गों के प्रति उनके मन में आदर है। 1980 में उन्होंने मुझसे कहा था ' जो चीज पार्टी में कोई नजर आती है, वह है परम्परा और अनुभव का आदर।

राजीव का व्यक्तित्व उनके नाना जवाहरलाल नेहरू से बहुत मिलता-जुलता है। उनमें प्रतिभा की वैसी ही चमक है वैसा ही खरापन वैसी ही ईमानदारी वैसी ही उदारता और करुणा।

भारत का एक आदर्श प्रधानमन्त्री मिला है।

3 नवम्बर 1984

आज शाम चार बजे शान्तिवन में इन्दिराजी का दाह-सस्कार कर दिया गया।

एक युग समाप्त हुआ।

दूसरा युग दस्तक दे रहा है

द्वार खालो

मगर द्वार कौन खोले ? एक-एक को लकवा मार गया है। न सोचने की शक्ति रह गयी है, न समझने की।

अब पता चलता है, एक देश को बाँधे रखना कितना कठिन है। इन्दिराजी भारत को अपने कधों पर उठाए हुए थीं। आज उनके बाद वह एक घडे की तरह, सडक पर टूटा पडा है। एक इन्दिरा गाँधी के न रहने से कितना फर्क पड गया है।

4 नवम्बर, 1984

एक विराट सन्नाटा डाल पर आकर बैठ गया है अपशगुन की तरह उल्लू की तरह। कभी-कभी कोई अपरिचित दूर से तिरती आती चीख इस सन्नाटे को तोड जाती है।

पता नहीं किसकी है यह चीख? कहाँ से आयी है? कहाँ ले जायेगी?

5 नवम्बर, 1984

दगे रूक गये हैं। अफवाहें पहले से अधिक जोर पर हैं।

जब दगे नहीं होते अफवाहें होती है। जब अफवाहें नहीं होतीं तब दगे होते हैं।

कभी-कभी दगे और अफवाह दोनों साथ-साथ होते हैं। सोने और सुहागे का साथ।

मारा जाता है गरीब।

मारा जाता है बेगुनाह।

मारी जाती है स्त्रियाँ।

मारे जाते है शिशु।

कुछ बचा नहीं रह जाता।

6 नवम्बर 1984

शर्म से सिर झुका हुआ है।

7 नवम्बर, 1984

आज इन्दिरा गाँधी पर रेडियो के लिए सस्मरण रेकार्ड कराये।

बोलते हुए चेहरे पर पसीना छलछलाया इस सर्दी में और सीने में हल्का-सा दर्द हो आया।

इमरेशनल स्टेट्स की वजह से हुआ है रक्तचाप बढ गया होगा। एजाइना तो हो नहीं सकता इतने शीघ्र।

अभी पिछले ही वर्ष तो हृदय की शल्य-चिकित्सा करायी थी मैंने।

इस तरह की सिचुएशन से बचना चाहिए मुझे।

मगर कैसे बचूँ?

31दिसम्बर, 1984/नई दिल्ली

1दिसम्बर को लोकसभा का चुनाव-अभियान राजीवजी ने मुझे सौंपा था। उसके पहले पार्टी का चुनाव-अभियान कुछ दफ्तरों के हाथ था, जो करोडों रुपये अपनी जेबों में भर रहे थे और अभियान को एक ऐसी पटरी पर चला दिया कि गाडी अन्त में पराजय-जक्शन तक पहुँचती। मरा तो खयाल है, पार्टी के भीतर के कुछ शक्तिशाली लोगों ने कुछ विदेशियों के साथ मिलकर पार्टी का हराने की योजना बनायी थी।

मगर एक बार फिर मैंने पार्टी को विजयी बनाने में भूमिका अदी की। 1980 में भी मैंने यही किया था। तब मेरा नारा था–' इन्दिरा लाओ देश बचाओ। इस बार मैंने नारा दिया–' इन्दिराजी की अन्तिम इच्छा, बूँद-बूँद से देश की रक्षा।

अपने प्रचार अभियान में मैंने एक ही मुद्दा रखा। देश की अखण्डता। भारतीयता का अर्थ ही है अखण्डता। प्रत्येक भारतवासी देश की अखण्डता पर स्वय को न्यौछावर करने को तैयार है यह मै जानता था। राजीव जी के कुछ अन्य मित्र इससे सहमत नहीं थे। वे कीमतों का गरीबी का सवाल उठाना चाहते थे। गहन होते हुए भी यह सवाल इन्दिरा गाँधी की मृत्यु की वजह से पृष्ठभूमि में चले गये थे।

एकता और अखण्डता का नारा कारगर हुआ। दश ने राजीवजी को इतनी सुदृढ सरकार बनाने की छूट दी कि अगर अब भी नहीं हुआ तो कभी नहीं होगा कोई नहीं करेगा।

काग्रेस को 400 सीटें मिलीं। मगर तुम्हें क्या मिला? 1980 में भी तुम्हें कहा गया था तुम्हें मन्त्रिपरिषद में शामिल किया जायेगा।

मगर क्या तुमने मन्त्री की इच्छा से प्रधान प्रचार की जिम्मेदारी ली थी? या राजीवजी के प्रति 'अपने स्नेहवश? और देश के ख्याल से?

छले जाने की अनुभूति तो होती ही है। इसलिए नहीं कि मुझे काम का पुरस्कार नहीं मिला। बल्कि इसलिए कि निकम्मों को निकम्मेपन का पुरस्कार मिला। मगर ऐसे ससार और ऐसी अव्यवस्था में क्या पछताना जो न्याय पर आधारित न हो।

हम ससार को बदल सकते है अपनी नियति को नहीं। हम अन्याय की एक व्यवस्था को बदल कर उसकी जगह अन्याय की दूसरी व्यवस्था कायम करते है। हम इसी भ्रम में चले जाते है। स्वप्न हकीकत में बदलगा। मगर ऐसा हाता कभी नही। मरा अनुभव सिर्फ इतना है स्वप्न देखा स्वप्नभग भी देखा।

मरी कविताएँ भी तो स्वप्न और स्वप्नभग का एक अजीबोगरीब एक नारकीय, एक जादुई मिलन हैं। एक ऐसा होता नहीं, पर है। क्या कहूँ?

यह पार्टी की जीत का वर्ष है और मेरी पराजय का।

वर्ष 1985

मगलवार /1जनवरी, 1985/नयी दिल्ली

आज नया दिन है और मन बुझा-बुझा है। आखिरकार यह कोई दिया तो नहीं जिसे दियासलाई से सुलगा लिया जाय और रौशनी फैल जाये।

वैसे तो हम कवि कलाकार साहित्यिक अर्द्धसन्त होते है। मगर तृष्णाएँ कुछ हद तक बनी रहती है एक पैर ससार में रहता है न रहे तो रचना भी सम्भव न हो।

जिस हद तक हम ससार मे है इच्छा है। जितनी इच्छा है उतना दु ख है। बौद्ध दर्शन के अनुसार भी, इच्छा ही दुख की जड है।

मगर इसे छोड सकना कितना कठिन है। असम्भव। तब फिर भोगना ही शेष रह जाता है। और भोगना ही शप रह गया है। भोगना और रचना।

बुधवार / 2 जनवरी, 1985 /नयी दिल्ली

आज भी मन में गहरा अवसाद है। एक अनजान कवि की बहुत पुरानी, मन में दबी एक पक्ति याद आती है

पूछती है सैयदा
इस जिन्दगी का
क्या किया?

आज यह सवाल मन में बार-बार घुमड रहा है — *क्या किया इस जिन्दगी का क्या किया?*

बृहस्पतिवार / 3 जनवरी, 1985 /नयी दिल्ली

आज से मैंने फिर लिखने-पढने का क्रम शुरू किया।

पुस्तको पर धूल जम गयी थी साफ की। पुरानी फाइलों अधूरी रचनाओं पर नजर दौडायी।

मन को तैयार करना चाहता हूँ। मगर मन दूसरी तरफ भागता है। फिर भी नकेल मरे हाथ है।

जाओगे भी तो कितनी दूर मुझसे जाओगे!

शुक्रवार / 22 मार्च, 1985 / मॉस्को

यह मेरी रूस की दूसरी यात्रा है। पिछले साल मैं वीणा के साथ सोवियत लेखक सघ के आमन्त्रण पर मॉस्को आया था। कल सवेरे विश्व शान्ति परिषद् के न्यौते पर मॉस्को पहुँचा। विश्व शान्ति परिषद् के अध्यक्ष मण्डल की बैठक है।

विश्व शान्ति परिषद् वैसे तो सोवियत रूस का प्रचार मच है। मगर इस बार इसका स्वरूप कुछ बदला नजर आ रहा है।

आज सवेरे जब उद्‌घाटन-अधिवेशन आरम्भ हुआ तो सभी किस्म के जीव-जन्तु नजर आये—पश्चिमी यूरोप के सोशल डेमॉक्रेट्स, ब्रिटेन की लेबर पार्टी के सदस्य अमरीका के युद्ध-विरोधी विचारक और प्रचारक बेल्जियम क पादरी, और भारत की कांग्रेस पार्टी का महामन्त्री मैं—तमाम काले और गोरे।

सूत्र सचालन सोवियत सघ क हाथ में है—मगर भाषणों का स्वर कुछ भिन्न है। चिन्ता का मुख्य विषय है स्टार वार्स। सबके मन में भय है आशका है चिन्ता है, सर्वनाश की छाया है। और इसीलिए लोग इतनी बडी तादाद में इकट्ठा हैं। वे अपनी बात कहना चाहत है, अपनी चिन्ता व्यक्त करना चाहते है ससार में अपनी चीख गुँजाना चाहते हैं।

भारत की ओर से मैंने अपना और भारत का दृष्टिकोण स्पष्ट किया। हम शान्ति चाहते हैं। मगर युद्ध की भाषा में शान्ति सम्भव नहीं। शान्ति के लिए आवश्यक है सह-अस्तित्व को बुनियादी शर्त के रूप में स्वीकार किया जाये और परस्पर सन्देह और अविश्वास को दूर किया जाय।

एक भारतीय और किस भाषा में बात कर सकता है।

सोमवार /25 मार्च 1985/मॉस्को

युद्ध-विरोधी और स्टार वार्स घोषणा क साथ आज विश्व शान्ति परिषद का अध्यक्षीय सम्मेलन समाप्त हो गया।

आज सोवियत लखक सघ की मरियम सैलेनिक और मिस्टर सीद्रोफ स मुलाकात हुई।

उनका आग्रह है कि बुल्गारिया स लौटते हुए एक दिन क लिए मैं मॉस्को रुकूँ। आग्रह क्या उनकी जिद है।

व बहुत सी बातें करना चाहते हैं—सोवियत साहित्य के भारत में और भारतीय साहित्य क रूस में अनुवाद क विषय में सास्कृतिक आदान-प्रदान के विषय में और मेरे साहित्य के विषय में।

उन्होंने बताया कि व शीघ्र ही एक सकलन मरी कविताओं का और दूसरा सकलन मरी कहानियों सहित मरे लघु उपन्यास 'दूसरी बार' का प्रकाशित करने जा रह है। काफी अनुवाद मरि मैल्मनिक चेलीशव अनक्जेण्डर सेक्येविच और राय्दवस्तमकी न कर डाला है। मरि सैल्नोनिक का कहना है कि वे इन अनुवादों स सन्तुष्ट है।

प्रम ट्रस्ट आफ इण्डिया के मॉस्को-सवाददाता गुप्ता ने भी बताया मेरी रचनाएँ रूस में बहुत रूचि और गौर स पढी जाती है।

मगलवार /26 मार्च, 1985/सोफिया

शाम सोफिया पहुँचा। बुल्गारिया मै पहली बार 1968 मे आया था। अन्तर्राष्ट्रीय युवा सम्मलन में। सयागवश वह मरी पहली विदेश यात्रा थी।

बृहस्पतिवार / 28 मार्च, 1985 / सोफिया

सोफिया में मेरा अद्भुत अतिथि-सत्कार हुआ। बुल्गारिया के राष्ट्रपति त्वोदोर जिकोव न मुझे अपने कार्यालय में बुलाकर आध घण्टे तक बातचीत की, इनकी ससद क अध्यक्ष कम्युनिस्ट पार्टी और एग्ररियन पार्टी के सर्वोच्च नेताओं फादरलैण्ड फ्रण्ट क अध्यक्ष बुल्गारिया लेखक सघ के अध्यक्ष लगभग सबका मै महमान बना हरक स अलग-अलग विचार-विमर्श हुआ।

पिछले तीन दिनों स हर रोज टेलीविजन पर मुझे दिखाया जा रहा है और मुझसे सम्बन्धित समाचार प्रसारित किया जा रहा है। समाचार-पत्रों के मुखपृष्ठों पर मरी तस्वीरें छप रही हैं। जाहिर है व भारत को काँग्रस पार्टी को और राजीव गाँधी को महत्त्व द रह है। वरना मरी अपनी क्या हैसियत है। व भारत क साथ अपने सम्बन्ध प्रगाढ करना चाहत है।

त्वोदार जिकाव क साथ मरी दिलचस्प बातचीत हुई। उन्होंने मुझस पूछा तुम कविता और राजनीति दो घोडों की सवारी एक साथ कैसे कर लते हो। ऐसे उदाहरण इतिहास में कम मिलत है।

मैंने उत्तर दिया मैं असल में अपने भीतर चौबीसों घण्टे एक लडाई लडता हूँ और इसमें कोई जख्मी नहीं होता कोई मेरे हाथों मारा नहीं जाता सिर्फ मै लहूलुहान होता हूँ। कभी राजनीति कविता पर हमला करती है कभी कविता राजनीति पर। मै दोनों का द्वन्द्व युद्ध रोकने के प्रयत्न में स्थायी तौर पर जख्मी होकर रह गया हूँ—जख्मी, मगर अपग नही।

त्वादार जिकोव न हँसकर सम्भवत अपनी सहमति व्यक्त की फिर बताया इन्दिरा गाँधी स मरी दास्ती थी। मर और उनके बीच कोई प्रोटाकोल नहीं था। मै खुलकर उनस बातें करता था और वह भी।

इन्दिरा गाँधी का प्रसग आने पर त्वोदार जिकोव की आँखों में शाक की छाया तैर गयी।

29 मार्च 1985 /शुक्रवार /प्लाव्दीव

कहन को प्लाव्दीव बुल्गारिया का वाणिज्य कन्द्र है।

असलियत यह है कि यहाँ क लागों का सरोकार वाणिज्य से अधिक सस्कृति है। वे उम्दा शराव पीत है बढिया खाना खाते है और उनकी स्त्रियाँ लुभावनी है – लुभाती है भी।

उन्होंन अपने खण्डहरों को मयखानों में परिणत कर दिया है और गुफाओं को नृत्यशालाओ (डिस्काथिक) मे।

प्लाव्दीव एक बहुत पुराना नगर है। उस पर तुर्कों और रोमनों की छाप साफ दिखायी पडती है। लगभग तीन-चार तो एम्फी थियेटर है जा खुदाई मे मिल है। जगह-जगह रोमन स्तम्भ है और हम्माम है।

मगर प्लाव्दीव क निवासी प्राचीन अवशषों को सिर्फ दखन की चीज नहीं मानते। रोमन स्तम्भों पर पत्थरों क ठोंक डालकर उन्होंने रेस्तराँ बना डाले है – प्राचीन को समकालीन सन्दर्भ दे दिया है। वे सस्कृति को सग्रह की नहीं उपयोग की वस्तु मानते है। इसी में सस्कृति का विकास है।

जिस जगह मै ठहरा हूँ, वह कभी राजनिवास था बुल्गारिया के सम्राट का ग्रीष्मनिवास।

उन्होंने इसे एक सग्रहालय नहीं होने दिया। वे इसका उपयोग करते है। अब यहाँ बुल्गारिया के राष्ट्रपति के निजि अतिथि ठहरते है।

इस थिरचिम निवास में कदम रखते ही लगता है कि यह कभी राजनिवास था। हर चीज में रौनक है – कालीनों बिछौनों रौशनदानों, मेजों कुर्सियों और स्नानगृहों में, मध्ययुगीनता का आलस्य यहाँ अँगडाइयाँ ले रहा है।

मगर उन्होंने इस राजनिवास में जिसके चारों ओर हरिणारण्य है कुछ नयी चीजें जाड दी है। कमरों में टेलीविजन सेट रख दिये है और टैलीफोन और हाई-फाई सिस्टम।

मगर दिवारों पर लगी या कोनों में रखी घडियाँ और घडियाल पुराने है। वे काल का और कालातीत का स्मारक है अतीत की एक श्रद्धाजनि है।

30 मार्च, 1985 /शनिवार /प्लाव्दीव

आज सवेरे मै श्री दत्वाकाव के साथ थिरचिम निवास के अरण्य में सैर को गया। दत्वाकोव वुल्गारिया क फादरलैण्ड फ्रण्ट के उपाध्यक्ष है और साफिया से बतौर मर मजबान मेरे साथ आये है।

बातें वे बहुत करत है सच्चाई ता यह है कि वह चुप रह ही नहीं सकत। मगर दिल के साफ है और खुशमिजाज है। बुल्गारिया के लोगों की यह विशेषता मैन देखी–व खुशमिजाज होत है और अपने फूलों की तरह प्रस्फुटित। बुल्गारिया है भी अपन गुलाबों क लिए प्रसिद्ध।

दल्वाकाव के साथ लगभग एक घण्टा अरण्य में घूमता रहा सँकरे रास्तों, गलियों पगडण्डियों पर। जाडा था और हल्की-हल्की बारिश हो रही थी।

किसी माड पर हिरणों और बारहसिंघों की झलक दिखी तो जरा दूर पर खरगोश रास्ता काट गया। लोमडियों और भेडियों के भी दर्शन हुए। मगर बहुत बडी तादाद में है यहाँ, वनमुर्गे हॉलाकि बाँस के जगल मुझे दिखायी नहीं दिये और भारत में वनमुर्गे अक्सर बाँस की झाडियों में मिलते है। यहाँ व मैदान पर दौड लगाते नजर आये हैं। तब वे वनमुर्गे न होकर उनसे मिलती-जुलती किसी नस्ल के पक्षी होंगे।

दिन-भर पक्षी बोलते रहते हैं। उनकी मुखरता थिरचिम निवास को और सूना बना जाती है।

इस सूनेपन का थिरचिम निवास के सन्नाटे और परम्परा का एकमात्र गवाह है यहाँ का खानसामा। इन तीन दिनों में मैंने लजीज स्वादिष्ट पकवान खाये। उनका स्वाद मेरी जीभ पर देर तक टिका रहेगा।

खानसाम को जो सारा समय ब्रिटिश शैली के कोट और 'बो में होता है वनस्पतियों की अद्भुत जानकारी है।

थिरचिम अरण्य में है भी सैकडों किस्म के पेड, फूल पत्तियाँ। तभी तो यहाँ इतने खरगोश है और हिरण और पक्षी।

31 मार्च, 1985 / रविवार / मॉस्को

मोफिया से मॉस्को वापिस।

27 अप्रैल 1985 / शनिवार / बिलासपुर

बिलासपुर मेरा अपना नगर है। मेरा जन्मस्थल। पूर्वजों की क्रीडाभूमि।

29 साल पहले मैं बिलासपुर छोड दिल्ली आ गया था भविष्य की तलाश में अंधेरे में रास्ता टटोलता हुआ।

मगर इन तमाम वर्षों में न तो मै बिलासपुर को भूल पाया, न बिलासपुर ने मुझे भुलाया। यह क्या करिश्मा है कि इतना सब हो गया, मगर न मैं बिलासपुर के लिए अजनबी हूँ न बिलासपुर मेरे लिए।

आज शाम श्रीकान्त वर्मा प्रसग के अन्तर्गत नगरवासियों ने मेरा सम्मान किया। कम्पनी बाग में नगर-का-नगर उमड पडा।

मुख्यमन्त्री बोरा ने कुछ कहा कुछ अशोक वाजपेयी ने कुछ औरों ने। मगर सबसे पते की बात यह है कि जिन्होंने कभी मुझे पढा नहीं सुना नहीं मेरे बिलासपुर छोडने के बाद पैदा

हुए वे यहाँ बहुत बडी तादाद में मौजूद थ। नयी पीढी। मैं उसके लिए एक श्रुति बन चुका हूँ।

सच्चाई तो यह है कि नयी पीढी मेरे विरुद्ध नहीं है। वह चाव से मुझे पढती है मेरी रचनाओं में रस लेती है, सराहती है। यह तो मेरे ही कुछ समकालीन हैं जो मेरे विरुद्ध जहर उगलते रहने है षड्यन्त्र रचते रहते है।

किसका नाम लूँ, किसका न लूँ। वे 'बायें भी है दायें भी। सामने पड जाने पर मुँहदेखी करते हैं, पीठ फेरते ही गोली दागते हैं।

वे मुझसे नहीं सत्ता से डरते है, वे सिर्फ सत्ता की पूजा करते हैं। जैसे ही कोई सत्ता से हटता है वे उस रौदत है। 1977 स 1980 के बीच मेरे साथ यही हुई।

विलासपुर का यह आयोजन इस दृष्टि से मेरे लिए महत्त्वपूर्ण था कि मेरा इससे हौसला बढा।

आयोजन के पीछे दृष्टि और सृष्टि रामबाबू की है मेरे एक शिष्य की।

11 मई 1985/ शनिवार / पूना

आज सवेरे मैंने मराठी के दलित लेखक-सम्मेलन का उद्घाटन किया। दलित लेखक सैकडों की सरु॰ में आये थे। इसके कर्ताधर्ता गगाधर पाग्वणे और नामदेव धसाल हैं।

दलित साहित्य की खुशबू और रग अलग ही है। उसमें दिखावा नहीं। वह अपनी बनावट में आधुनिक है। उसकी अन्तरात्मा भारतीय है। उसमें हजारों वर्षों से कुचली गयी आत्मा का आर्तनाद है दर्प है प्रतिकार है हिंसा है समर्पण है पहचान है पश्चात्ताप है अस्मिता है। शायद इसीलिए इन लोगों ने अपनी पत्रिका का नाम रखा है अस्मितादर्श।

13 मई 1985/ सोमवार / बम्बई

डेण्टिस्ट ने मेरे दाँतों की परीक्षा की। अगले हफ्ते वह मेरे छह-सात दाँतों की 'कैपिंग करेंगे।

30 जून 1985/ रविवार / कोपेन हैगेन

और इसके लिए उन्होंने शहर के बीचोबीच टिवोली बसायी जो उजडती है रात को उजडने पर भी बनी रहती है अपने खेल-तमाशों जादूगरों बौनों खिलौनों-रेलगाडियों आधुनिक विज्ञान के चमत्कारों के साथ।

हस क्रिश्चियन एण्डर्सन को जन्म दिया जिन्होंने अपने अकेलेपन को बाल-स्वप्नों से मूँगे-मोतियों से जड दिया भर दिया। आज भी हस क्रिश्चियन एण्डर्सन की कहानियाँ मुझे मेरे बचपन में ले जाती है जिसमें स्वप्न है तिलिस्म की तलाश है ऊब नहीं है जिज्ञासा है कौतूहल

है, भ्रम है सुख है तृष्णा है, मणि है, स्वर्ग है, पी सी राय का जादू है। हम क्रिश्चियन एण्डर्सन की कहानियों में हर व्यक्ति को उसका बचपन दोबारा सौंपने की सामर्थ्य है।

डनमार्क में एक अनोखी सरलता है जो अलगाव से स्वप्नशीलता से, बचपन के प्रति प्रेम से पैदा होती है।

संयोग नहीं कि डनमार्क का प्रतीक है जलपरी — समुद्र के किनारे बैठी हुई समुद्र से निकलकर धूप में अंग सेंकती हुई स्वप्न देखती हुई, जलपरी।

12 अगस्त 1985/ सोमवार / नयी दिल्ली

चीन और उत्तरी कोरिया की यात्रा से आज मेरी पत्नी और मैं वापिस आये। चीन की यह मेरी तीसरी यात्रा थी। चीन एकदम बदला हुआ है। समाजवाद की यात्रा सम्पूर्ण हुई। अब दोबारा एक सम्पन्न समृद्ध समाज की तलाश शुरू हुई है। चारों ओर समृद्धि की ललक है।

भूख है पेट की नहीं अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति की प्रेम की।

पहली बार मैंने चीनी युवकों को युवतियों की ओर घूरते देखा। पहली बार सबकी आँखों में चमक देखी। पहली बार उनमें आत्मविश्वास देखा।

चीन की यह नयी यात्रा कहाँ जाकर समाप्त होगी कहना कठिन है।

यह क्रान्ति नहीं प्रतिक्रान्ति है। और यह प्रतिक्रान्ति चीन के लिए जरूरी थी। कानफ्यूसियस के लिए। कालजयी कानफ्यूसियस के लिए।

1 सितम्बर 1985/ रविवार / नयी दिल्ली

मैं अपने ही घर में बन्दी होकर रह गया हूँ। सरकार ने सुरक्षा के लिए पचीस हथियारबन्द सन्तरी और अंगरक्षक दे रखे हैं। वे घर आँगन सबकुछ घेरे हुए हैं।

आतंकवादियों से अधिक असुरक्षा पुलिस की मौजूदगी से होती है।

मृत्यु का भय नहीं। यह दमघोंट किलेबन्दी काफ्का के कैसल की तरह है गुमनाम अनुपस्थिति का स्थानापन्न भय।

18 सितम्बर 1985/ बुधवार / नयी दिल्ली

आज मेरा जन्मदिन है।
मन आत्मग्लानि से भरा हुआ है।
इन तमाम वर्षों में मैंने क्या किया ?
मिथ्या चाटुकारिता अहं दर्प
छल आत्मछल आकांक्षा लोभ

वैभव, प्रदर्शन, आत्म-प्रदर्शन, प्रतिद्वन्द्विता,
शत्रुता, आत्मरति ।
नाटकीय जीवन जिया ।
मै अपने अन्दर बैठा हुआ एक
पिशाच हूँ,
अन्यायी
अत्याचारी,
रोगग्रस्त,
भोगग्रस्त ।
ईश्वर मुझे शक्ति दो इस छद्म और
छल से उबरने की ।
फिलहाल स्वय को धिक्कार ही सकता हूँ
आगे की सोचा –
'काबे, किस मुँह से जाओगे, गालिब ?

10 अक्तूबर 1985/ बृहस्पतिवार / आयोवा

पॉल एगल बूढे हो चुके है , शरीर से
अन्तरात्मा वही अदम्य वही उदात्त
वही करुणार्द्र ।

पॉल एगल से मै पहल-पहल 1963 मे मिला था दिल्ली के जनपथ स्थित काटेज इण्डस्ट्रीज इम्पोरियम के कॉफी घर मे ।

फिर मै उन्हे भूल गया । 1969 मे उनसे खतो-किताबत शुरू हुई । 1970 मे मै पहली बार आयोवा आया । दूसरी बार 1978 मे, परिवार के साथ । तीसरी बार इस बार ।

इन तमाम वर्षों मे पॉल एगल और हुआ लिग के साथ मेरे सम्बन्ध आत्मीय हो गये है । औपचारिकता कहीं नहीं है ।

मरे आयोवा पहुँचते ही पॉल एगल न फोन किया वेलकम टू एगल कण्ट्री ।

तडके / यहाँ के हिसाब से 10 बजे तडके ही हुआ / वह दौडे-दौडे आयोवा हाउस आये – मुझे और मण्टू को घर ले जाने ।

उनके मुँह से शराब की गन्ध आ रही थी । उन्होंने सूँघ लिया कि मै उन्हे सूँघ रहा हूँ । उन्होंने कहा कि पहले बन्द कर रखी थी अब दोबारा पीने लगा हूँ ।

वह ताबडतोड पीने लगे है दूसरों स और स्वय स छिपकर पीन लग है ।

पिछले वर्ष उनके मस्तिष्क का ऑपरेशन हुआ था, मगर इस ऑपरेशन से कहीं अधिक उनकी कर्मठता ने उन्हें जीवन्त बना रखा है बल्कि अब वह पहले से अधिक जीवन्त और आक्रामक नजर आते हैं।

वह जब भी कुछ करते-बोलते हैं लगता है आयु पर आक्रमण कर रहे हैं, उम्र पर जरा पर, मृत्यु पर और इस बात का अहसास भी उन्हें पहले से अधिक है कि अगर कुछ निश्चित है तो सिर्फ मृत्यु।

क्या सयोग है कि मैं उनके जन्म-दिन के आसपास आयावा पहुँचा। कल इण्टरनेशनल रायटिंग प्रोग्रैम उनका जन्मदिन मनाने जा रहा है मतलब प्रोग्रैम के सदस्य हालाँकि जन्मदिन उनका 12 अक्टूबर को है।

हुआ लिंग एंगल के चेहरे पर भी उम्र की मार दिखाई पडती है। साठ की हो चलीं। पॉल एंगल कई साल हुए प्रोग्रैम से रिटायर हो चुके हैं। हुआ लिंग प्रोग्रैम चलाती हैं भागती हैं दौडती हैं तमाम दुनिया में साल-पर-साल हर साल लेखक मण्डली जुटाती हैं।

लेकिन अब उम्र के साथ-साथ उनमें झुँझलाहट आने लगी है। उन्होंने कहा मेरा अपना लिखना-पढना नहीं हो रहा है।

पॉल एंगल से मैंने पूछा—इस उम्र में वह इतने तन्दुरुस्त कैसे नजर आ रहे हैं ? उन्होंने कहा मैं सुबह से देर रात तक सक्रिय रहता हूँ, लिखता हूँ, पढता हूँ, अपनी गाडी खुद चलाता हूँ, अपनी चिट्ठियाँ स्वय टाइप करता हूँ, चलता हूँ, फिरता हूँ, खाँसता भी हूँ, बीमार भी पडता हूँ मगर यह बगैर भूले कि मुझे जीना है। तब तक जब तक कि जिन्दगी बेमानी न लगने लगे।

दोपहर का खाना बाहर रेस्तराँ में पॉल एंगल और हुआ लिंग के साथ खाया। शाम को उन्हीं के घर भोजन पर एक लातीनियन दम्पत्ति से मुलाकात हुई — नाम ठीक-ठीक स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ। मिस्टर इवार या इसी जैसा कुछ और उनकी पत्नी।

इस जैसा भारी-भरकम अहवाला व्यक्ति मैंने साहित्य में कम देखा, राजनीति में तो रोजमर्रा मुलाकात होती है ऐसे लोगों की।

वह ओकला हामा से वर्ल्ड लिटरेचर नामक मासिक क्या छापता है स्वय को विश्व-साहित्य का प्रणेता समझता है।

दम्भी तो है ही भौंडा भी है। सारा समय हुआ लिंग पर छींटाकशी करता रहा। मसल सच साबित करता हुआ जिस पत्तल में खा रहा था उसी में छेद कर रहा था।

11 अक्टूबर 1985 / शुक्रवार / आयोवा

दोपहर मराठी लेखक अरुण साधु से मुलाकात हुई। इस वर्ष भारत से वह इस प्रोग्रैम में आये हैं।

उनसे एक बार पहले बम्बई में भेंट हुई थी एक प्रेस-सम्मेलन में। वह बम्बई में 'स्टेट्समैन' के प्रतिनिधि हैं। शाम को अनन्तमूर्ति से। अनन्तमूर्ति मेरे पुराने मित्र हैं। उनका 'संस्कार' मेरे प्रिय उपन्यासों में से है बेजोड कलाकृति।

मेरे कविता संग्रह 'मगध' की उन्होंने बडी प्रशंसा की। मन बुझा हुआ न होता तो उनकी सराहना से न जाने कितनी शक्ति मिलती। मगर अब पता नहीं क्यों कुछ भी कारगर नहीं हो रहा है।

अनन्तमूर्ति ने बताया कि अपर्णा और विनय धारवाडकर ने जो शिकागो में हैं मेरी अनेक कविताओं के अंग्रेजी में अनुवाद किये हैं। कुछ अनुवाद उन्होंने इंग्लैण्ड और अमरिका की पत्रिकाओं में प्रकाशित कराये है। मैंने देखा है। वे मेरी कविताओं के सर्वोत्तम अनुवाद हैं।

12 अक्टूबर 1985 / शनिवार / वाशिंगटन

सबेरे आयोवा से विदा देते हुए पॉल एंगल ने एक कहानी सुनायी।

उन्होंने कहा, वर्षों पहले, भारत में खजुराहा हवाई अड्डे पर मैंने एक भारतीय सैनिक अधिकारी को अपने सैनिक बेटे को विदा देते हुए देखा। पहले तो पिता सैनिक अधिकारी की तरह बर्ताव करता रहा जब जहाज छूटने लगा, तब पिता ने बेटे को गले लगाते हुए कहा 'डियर ब्वाय!'

पॉल एंगल ने मुझसे कहा, 'वैसे तो तुमसे मेरा कोई रिश्ता नहीं उम्र की दूरी भी इतनी नहीं, फिर भी ;कहना चाहता हूँ, डियर ब्वाय।' पॉल एंगल की आँखों में आँसू थे। और शायद हुआ लिंग की भी आँखों में।

वैसे हमारा उनसे क्या रिश्ता है ?

18 अक्टूबर 1985/ शुक्रवार / न्यूयार्क

कल शाम पवन वर्मा के घर भोजन के निमित्त
गया।
मन का दुख उन पर उँडेल आया।
गलत किया।
हम यहाँ इस नक्षत्र पर दूसरों को सुख
देने को हैं,
दुख नहीं
अगर हम सुख नहीं दे सकते

और वही हुआ। मेरी आशका सही निकली। कल शाम कविता-समारोह बुरी तरह विफल हुआ।

पहले तो यह कि कविता के नगर पेरिस में कविता के इस समारोह में कोई मशहूर कवि उपस्थित नहीं था – वरना बानफुआ स लेकर कौन – यहाँ नहीं है। जाहिर है कि उन्हें आमन्त्रित नहीं किया गया था। न तो फ्रेंच समिति ने कोई दिलचस्पी ली, न भारतीय दूतावास ने।

कुछ भारतीय थ जिनकी समझ और रुचि सतही थ। कुछ फ्रेंच थ, जिनकी रुचि दिखाव की है समझ की मैं नहीं जानता।

जहाँ तक मेरा प्रश्न है मरी तो तकदीर ही खराब है। न जाने ईश्वर मुझसे क्यों नाराज है।

कई महीने परिश्रम कर भारतीय कविता पर लेख लिखा था। वह भी सबके सिर से गुजर गया। कविताएँ पढ़ी। कुछ तालियाँ पिटीं। फिर सारा मामला बुझ गया।

मुझ अपना दुख नहीं। मुझ पर ता ग्रहदशा है। जा भी करूँगा, उल्टे मुझ पर पड़ेगा।

दुख इस बात का है कि उपस्थित समुदाय ने अन्य सहयोगियों की रचनाओं के प्रति भी वैजुअल व्यु लिया।

असल बात यह है कि हम भारत का जितना भी प्रोजक्ट करना चाहें नतीजा कुछ नहीं निकलगा। दुनिया यह मानने को तैयार ही नहीं कि भारत कालिदास, ताजमहल और बन्दर भालू तथा साँप-बिच्छू स आग निकल चुका है।

हम जब अपन बारे में दावा करते है, और अक्सर सही दावा करते है तो पश्चिम निवासियों को नींद आने लगती है। जब तक हम अपना वाक्य पूरा करत है तब तक पश्चिम अपनी जगह स उठकर हैम्बर्गर खाकर लौट चुका होता है। दोष हमारे वाक्य का नहीं हैम्बर्गर है जो सुना है, बहुत जल्द भारत आने वाला है।

समग्र विफलता क बीच एक आशा की किरण भी थी रजा। चित्रकार रजा का ...गा।

...म होते ही वह मेरी तरफ लपका। उनके पास मगध की कविताओं की ...न मुझसे पूछा 'आपने 'मगध' की अन्य कविताएँ क्यों नहीं

... कि मैं तो सुनाने को तैयार था तत्पर था मिस्टर गोर्थिए ही

...र कविता की लड़ाई लड रह है, कुछ महीन हुए मगध ...। लिखी थी। 'मगध' उन्हे बहुत पसन्द है।

ता कम-से-कम
अपना दुख तो
दूसरों पर नहीं थापना चाहिए।
ध्यान रखूँगा।

19 अक्टूबर 1985 / शनिवार / न्यूयार्क

कहीं भी चैन नहीं
कहीं भी
शान्ति नहीं।
कल सुबह
मटू के साथ टहलता हुआ फिफ्थ एवेन्यू
गया।
थाड़ी ही देर में वैसी ही घबराहट शुरू
हो गयी जैसी दिल्ली में
हुआ करती थी —
हाथों-पैरों को माना लकवा मार गया
हो
तालू सूखत हुए
सिर चकराता हुआ
थककर
एक दुकान की दिवार पर टिककर
बैठ गया
फिर होटल आया
कमर में कुछ राहत मिली
एक भारतीय रस्तराँ में
भोजन किया
पी।
चैतन्य हुआ।

और वही हुआ। मेरी आशका सही निकली। कल शाम कविता-समारोह बुरी तरह विफल हुआ।

पहल ता यह कि कविता के नगर पेरिस में कविता के इस समारोह में कोई मशहूर कवि उपस्थित नहीं था – वरना वानफुआ से लेकर कौन – यहाँ नहीं है। जाहिर है कि उन्हें आमन्त्रित नही किया गया था। न ता फ्रेंच समिति न कोई दिलचस्पी ली न भारतीय दूतावास ने।

कुछ भारतीय थ, जिनकी समझ और रुचि सतही थे। कुछ फ्रेंच थे जिनकी रुचि दिखावे की है समझ की मैं नहीं जानता।

जहाँ तक मेरा प्रश्न है मेरी तो तकदीर ही खराब है। न जाने ईश्वर मुझसे क्यों नाराज है।

कई महीने परिश्रम कर भारतीय कविता पर लेख लिखा था। वह भी सबके सिर से गुजर गया। कविताएँ पढीं। कुछ तालियाँ पिटीं। फिर सारा मामला बुझ गया।

मुझे अपना दुख नहीं। मुझ पर ता ग्रहदशा है। जो भी करूँगा उल्टे मुझ पर पडेगा!

दुख इस बात का है कि उपस्थित समुदाय ने अन्य सहयोगियों की रचनाओं के प्रति भी वैजुअल व्यु लिया।

असल बात यह है कि हम भारत को जितना भी प्रोजक्ट करना चाहें नतीजा कुछ नहीं निकलेगा। दुनिया यह मानने को तैयार ही नहीं कि भारत कालिदास ताजमहल और बन्दर भालू तथा साँप-बिच्छू स आगे निकल चुका है।

हम जब अपने बारे में दावा करते हैं और अक्सर सही दावा करते हैं ता पश्चिम निवासियों का नींद आने लगती है। जब तक हम अपना वाक्य पूरा करते हैं तब तक पश्चिम अपनी जगह से उठकर हैम्बर्गर खाकर लौट चुका होता है। दोष हमारे वाक्य का नहीं हैम्बर्गर का है जो सुना है बहुत जल्द भारत आने वाला है।

इस समग्र विफलता के बीच एक आशा की किरण भी थी रजा। चित्रकार रजा को श्राताओं में बैठे देखा।

कविता-पाठ खत्म हाते ही वह मेरी तरफ लपके। उनके पास मगध की कविताओं की एक लम्बी फेहरिस्त थी। उन्होंने मुझसे पूछा आपने 'मगध की अन्य कविताएँ क्यों नही पढीं?

अब मैं उनसे क्या बताता कि मैं तो सुनाने को तैयार था तत्पर था मिस्टर गोर्थ्रि ही सुनने को तैयार नहीं थे।

रजा पेरिस में भारतीय कला और कविता की लड़ाई लड रहे हैं कुछ महीने हुए मगध पढकर उन्होंने अशोक वाजपयी को चिट्ठी लिखी थी। मगध उन्हें बहुत पसन्द है।

25 अक्टूबर, 1985 / शुक्रवार / पेरिस

पेरिस में इन दिनों ठण्ड पड रही है। सर्दी पेरिस निवासियों के हिसाब से, इस वर्ष जल्दी आ गयी।

सुबह उठा तो धूप खिली हुई थी। होटल से दस कदम पर ही ईफिल टॉवर के नीचे पडे एक बैंच पर बैठ गया। धूप खाने लगा। करीब दो घण्टे वहीं बैठा रहा बाहर की बातचीत के बीच अपने भीतर के मौन में डूबा हुआ , नहीं , डूबता-उतरता हुआ बत्तख की तरह ,भीतर कितना स्वच्छ है देखो ता – नहीं तो मैल है मैल-ही-मैल है।

एक अनन्त स्वप्न है जिसे देखते रहना सुख है। सुख का यही क्षण मुझे चाहिए, बरसों से इसी का इन्तिजार है।

लेकिन क्या सुख की तलाश में बार-बार पेरिस आना होगा?

मुझे तो अपनी ही दुनिया में डूबकर (बत्तख की तरह डूबते-उतराते) सुख का यह क्षण उबारना है। यही स्वय का उबरना भी है।

26 अक्टूबर, 1985 / शनिवार / पेरिस

पेरिस के पियरे कार्दा की एक दुकान के तमाम कपडे खरीद डाले। कोट ही कोट/ओवरकोट।

यह भी एक किस्म की सनक है। मगर यह हमेशा मेरी जिन्दगी में रहा। जब भी कोई सनक दिमाग पर सवार हुई उसे पूरा किया ।

28 अक्टूबर 1985 / सोमवार / नयी दिल्ली

लगभग तीन सप्ताह बाद आधी दुनिया का चक्कर काट घर लौटा तो क्वाधी की पक्ति याद आयी व्हेयरेवर यू गो द सिटी विल फॉलो यू।

तुम कहीं सुखी नहीं रह सकते।

29 अक्टूबर, 1985 / मगलवार / नयी दिल्ली

दिल्ली लौटा तो फ्लू ने धर दबाचा। ठण्ड पेरिस में ही लग गयी थी लगातार चार रात कविता-पाठ के बाद देर से हाटल लौटने की वजह।

बुरा हाल है। बीमारियों ने मुझे घेर लिया है। शारीरिक से अधिक लगता है मानसिक व्याधियों ने। इस बार इनसे उबर गया तो उबर जाऊँगा।

31 अक्टूबर, 1985 /बृहस्पतिवार /नयी दिल्ली

आज इन्दिरा गाँधी की पहली बरसी है। मेरे जीवन पर इन्दिरा गाँधी का सबस अधिक असर रहा है। इन्दिरा गाँधी के जबर्दस्त और आक्रामक व्यक्तित्व ने मुझ पर गहरी छाप छाडी है। मैं सोचता हूँ, इस रिश्ते पर इन्दिरा गाँधी पर मुझे एक पुस्तक लिखनी चाहिए। केन्द्र हो इन्दिरा गाँधी परिदृश्य हो यह क्रूर और बर्बर शताब्दी। इस द्वन्द्व से कई दिलचस्प नतीजे निकलेंगे। लकिन पहले भी कई बार सोचा और लिख नहीं पाया। ता क्या हुआ?

एक बार फिर। एक बार फिर प्रयत्न करो। तुम नहीं लिखोगे तो दूसरे बहुत-से फालतू लोग लिखेंगे प्रशसा या निन्दा कर इन्दिरा गाँधी की हत्या करेंगे।

वर्ष 1986

3 जनवरी 1986 /शुक्रवार /कलकत्ता

कल देर रात कलकत्ते आया। यहाँ से कल सबरे पोर्ट ब्लेयर जाना है, अण्डमान। अण्डमान देखने की इच्छा बरसों स थी उन सींखचों को देखने की जिनमें हमारे पूर्वजो का दम घुटता रहा। मर भी गय सिर्फ एक स्वप्न के लिए-स्वाधीनता। मरे लिए यह तीर्थ यात्रा है।

जहाँ तक कलकत्ते का प्रश्न है कभी यह पूर्व की सास्कृतिक राजधानी था। टैगोर ने उसे एक ऐसी गरिमा और विलक्षणता द दी जिस पढ-सुन लोग कहते थ कलकत्ता कभी नष्ट नही हागा।

मगर असत्य साबित हुई यह भविष्यवाणी। कलकत्ता नष्ट हो चुका है। कुछ महीने पहले राजीव गाँधी की इस टिप्पणी पर कितना बावेला मचा कि 'कलकता इज ए डाइग सिटी।

मगर मैं कहता हूँ, 'कैलकटा इज ए डेड सिटी।

राजनेताओं लुटरे व्यापारियों और वक्त ने उसे नष्ट कर दिया। हर शहर की एक उम्र होती है। सौ साल ढाई सौ साल हजार साल तक्षशिला नालन्दा पाटलिपुत्र इन्द्रप्रस्थ सभी नष्ट हो चुके। काल ने सबको निगल लिया। कहने का तो एथेंस अभी भी है। और रोम? और वेनिस। मगर क्या ये वही एथेंस रोम और वेनिम है?

तमाम दुनिया में एक ही नगर अपवाद है जिस पर शताब्दियों की धूल जम गयी काल न उस जगह-जगह खरोंच डाला है मगर वह अब भी गूँज रहा है जीवित है जीवन का गवाह मणिकर्णिका के बावजूद।

काशी। मगर वह भी इसलिए कि गगा है। जब तक गगा रहेगी काशी रहगी अपन पण्डों साँडों, रॉडों सीढियों के साथ और रहना चाहिए उसे। एक अपवाद तो हो।

कलकत्ते में गगा नहीं है। हुगली है। हुगली के तट पर व्यापार होता है। हुगली क्यों न नष्ट करती कलकत्ते को।

4 जनवरी 1986 / शनिवार / पोर्ट ब्लेयर

हर हँसी के पीछे आँसू होते है। कुछ आँसू यहाँ भी बहाये गये पोर्ट ब्लयर में, जो कभी 'काला पानी के नाम से जाना जाता था। काली पानी हमारी भाषा का एक मुहावरा बन गया—सुदूर निष्कासित जिसक लौटने की कोई उम्मीद नहीं।

मगर काला ता नहीं यह पानी? सुन्दर है हरा है, नीला है, चारों ओर द्वीप है, मूगिया, पहाडी द्वीप। जैसे समुद्र पर कछुए आसन मारकर बैठ गय हों और बैठे ही हों शताब्दियों से। तीन सौ से अधिक द्वीप। सुरम्य मनोरम।

फिर क्या काला था? काले थे हिन्दुस्तानी हमारे पूर्वज, क्रान्तिकारी देशभक्त जिन्हें गोरे शासक इसलिए यहाँ भेजत थे कि उन्हें देशप्रेम का मजा चखाया जाय। उन्हें पता चल कि यन्त्रणा असह्य यन्त्रणा अमानवीय यन्त्रणा क्या होती है।

अपरान्ह जब मै सेल्युलर जेल गया तो मैंने देखा, अपनी सभ्यता पर नाज करनेवाले अग्रेज कितने कुरूप बदशक्ल मनहूस, अमानुषिक कारागृह खडे क्र सकते हैं। मानवीय स्वतन्त्रता की पक्षधरता का दावा करनेवाली गोरी जाति किस तरह इन्सान को उन सीखचों में एक नहीं दो-दा दशक दस-दस बीस-बीस वर्ष कैद कर रख सकती है। इन सींखचों में जहाँ से कोई निकल नहीं सकता और कोई प्रवेश नहीं कर सकता। एक पतली-सी सूरज की किरण को छाड जो ससार को सुखभरी नींद से जगाती है लोग-बाग अँगडाइयाँ लेते ओंठों पर मुस्कान लिये उठते हैं किरण जो औरों क लिए आशा का सन्देश लिये आती है। इन अभागों के लिए जो यहाँ अण्डमान में काला पानी भोग रहे थे सुबह कभी कोई आशा का सन्देश नहीं लायी और शाम आयी तो वह भी डरती-डरती उनकी कोठरियों के दहलीज पर एक स्वप्न मात्र रख गयी—आजादी का स्वप्न जिसे उन्होंने बरसों देखा सँजोकर रखा। आखिर इस स्वप्न के लिए ही ता उन्होंने सजाएँ भोगी थीं। उनका जुर्म अपराध क्या था? उन्होंने स्वप्न देखा था। और वे उसे असलियत में परिणत करना चाहते थे।

कितनों ने दम तोड दिया भूख और बीमारी से। क्या देते थे उन्हें वे भोजन के नाम पर। मुझे बताया गया कि रात को टट्टी-पेशाब के लिए बाहर जाने की माँग करनेवालों पर कोडे बरसाये जाते थ या गालियाँ दूसरे सबेरे जब अग्रेज जेलर के सामने उनकी पशी होती थी। मगर किसी ने आत्मसमर्पण नहीं किया। (हथियार डालने का मुहावरा गलत होगा। हथियार थे ही कहाँ उनके पास) नीचे की चार कोठरियाँ काल कोठरियाँ है जहाँ उन्हें फाँसी से पहले रखा जाता था।

इन काल कोठरियों के ठीक सामने कुछ ही कदम की दूरी पर फाँसीघर है। बाहर एक चबूतरा। फाँसी के पहले तडके कैदी को इस चबूतरे पर लाया जाता था। अग्रेज बडे 'उदार थे। मौत के पहले कुछ क्षण वे आदमी को खुली हवा में साँस लेने की छूट देते थे। वे बडे धर्मभीरू थे।

है, न ? तभी तो कैदी को स्नान-ध्यान कराया जाता था गीता-बाईबल-कुरान के पाठ की सुविधा दी जाती थी और उनके 'स्वतन्त्रता प्रेम की तो अन्यत्र कोई मिसाल ही नहीं । फाँसी पर चढ़ाने के पहले पूछते थे, 'अन्तिम इच्छा ?'

कितनों ने उत्तर दिया होगा—'आजादी ।' क्या उन्होंने उनकी अन्तिम इच्छा पूरी की ?

शेक्सपियर के नाटकों में ट्रेजेडी ट्रेजेडी रहती है, कॉमेडी कॉमेडी । मगर वे शेक्सपियर को घर भूल आये थे । यहाँ आकर उन्होंने सीखा था ट्रेजेडी को कॉमेडी में और कॉमेडी को ट्रेजेडी में बदलना ।

तभी तो वे फाँसी की सुबह तमाम कोठरियों के द्वार खोल देते थे ताकि बाहरी सींखचों से कैदी देख सकें अपना भविष्य—फाँसी आजादी की माँग करनेवालों का भविष्य—फाँसी विदेशी शासकों को बाहर खदेड़ने का मंसूबा रखनेवालों का भविष्य—फाँसी फाँसी पर चढ़ने का हौसला रखनेवालों का भविष्य—फाँसी और फाँसी की रस्सियों की परवा न करनेवालों का भविष्य—फाँसी ! देखो, तुम्हें इसी तरह फाँसी पर चढ़ाया जायेगा ।

देखो, फाँसी पर लटककर तुम्हारी जीभ आजादी का नारा लगानेवाली जीभ इसी तरह बाहर निकल जाएगी ।

देखो अपना हश्र देखो ।

देखो अपनी लड़ाई का हश्र देखो।

देखो अपने देश का हश्र देखो ।

देखो हम तुम्हें किस तरह नहला-धुलाकर पवित्र करते है (गंगाजल नहीं हुआ तो क्या हुआ, काला पानी तो है) और अब तुम्हें उस लोक में भेजते है जहाँ फाँसी नहीं होती कम-से-कम 'आजादी चीख पड़ने पर फाँसी नहीं होती, जहाँ कोड़े नहीं लगाये जाते (नरक में जरूर लगाये जाते है, मगर अण्डमान आने के बाद नरक जाने की जरूरत ही क्या ?) जहाँ वह शरीर ही नहीं जिसे लटकाया जा सके ।

और रोज ही या अक्सर यह दृश्य दोहराया जाता । फाँसीघर में एक साथ तीन व्यक्तियों को फाँसी देने की व्यवस्था है । इसका अर्थ यह हुआ कि कई बार तीन-तीन व्यक्तियों को एक साथ फाँसी दी जाती थी ।

फाँसी के पहले कितनी चीखों से आसमान भर गया होगा ;कुछ रोये होंगे, कुछ चिल्लाये होंगे, कुछ ने नारा लगाया होगा— इनकिलाब जिन्दाबाद 'क्रान्ति अमर रहे ।'

जिन्होंने ये नारे लगाये वे पागल थे । कोई विक्षिप्त व्यक्ति ही स्वयं को खतरे में डालता है । समझदार कोई जोखिम नहीं उठाते, कोई खतरा मोल नहीं लेते । चाय भी फूँक-फूँककर पीते है ।

फाँसीघर के सामने की कारा की दूसरी मंजिल की सबसे अन्तिम कोठरी सावरकर की थी, जिन्हें सबसे खतरनाक कैदी माना जाता था । 1910 में उन्हें यहाँ लाया गया । 1929 में 'रिहाई' हुई । उनकी कोठरी को एक लोहे की दीवार खड़ी कर शेष कारागर से अलग कर दिया गया था । कोई भी कोशिश कामयाब न हो भाग निकलने की ।

बरसों यहाँ रहने के बावजूद सावरकर को यह न मालूम हो सका कि उनके भाई भी इसी कारागार में कैद हैं।

मेरे मन में सावरकर के प्रति पूर्वग्रह था क्योंकि उनका सम्बन्ध हिन्दू महासभा' से रहा। मैंने यह नहीं सोचा कि एक हिन्दू के रूप में अपनी अस्मिता की तलाश साम्प्रदायिकता नहीं।

कम-से-कम ऐसा व्यक्ति साम्प्रदायिक नहीं हो सकता जिसने देशभक्ति की इतनी बडी सजा भोगी हो।

जेल के बाहर सावरकर की प्रतिमा स्थापित की गयी है मेरा सिर झुक गया श्रद्धा में।

और कुछ शर्म में। हम कितने शीघ्र दूसरों के विषय में फतवा दे देते हैं। और अगर तर्क के जरिए तुम लोग यह प्रमाणित कर भी लो कि सावरकर साम्प्रदायिक थे तो मुझे तुम्हारा तर्क मंजूर नहीं।

मैं कवि हूँ। मैं तर्क नहीं जीता। मेरे लिए सावरकर वह व्यक्ति है जो हाथों-पैरों में हथकडी-बेडी पहने बरसों इस भयानक कोठरी में अँधेरे में कैद रहा मगर न वाणी अवरुद्ध हुई न आत्मा।

शाम हो चली है। समुद्र पर चिडियाँ मँडला रही हैं। हजारों की तादाद में। कौन जानता है ये हमारे पूर्वजों की मृतात्माएँ हों।

कुछ मेरी खिडकी के शीशों से आकर टकरा जाती हैं। या वे मुझे जगा रही हैं गहरी नींद से। जागो तुम नींद में हो। नींद में चल रहे हो नींद में लिख रहे हो, नींद में जीवन जी रहे हो।

जीवन वह है जो इन सींखचों में रहनेवालों ने जिया।

मैंने अपने कमरे की बत्तियाँ नहीं जलायीं। रहने दो यह अन्धकार। होने दो पूर्वजों से मृतात्माओं से यह संवाद।

नीचे पहाडी के नीचे समुद्र है। पानी दूर तक फैला पानी। अरे यह तो सचमुच काला हो चला। यह पानी।

5 जनवरी 1986/ रविवार / पोर्ट ब्लेयर

सेल्युलर जेल से लौटने के बाद मैंने सोचा था मुझे रात नींद नहीं आयेगी।

मगर थोडी देर खुद से झगडने के बाद आँखें झपक गयीं और थोडी ही देर में मैं खर्राटे भरने लगा। सुबह उठा तो समुद्री चिडियाँ पंख मारती समुद्र पर झपट्टा मारती दिखायी पडीं।

दोपहर मोटर बोट में समुद्र की सैर की। यहाँ के द्वीपों के नाम अंग्रेजी हैं—अंग्रेज अपनी बीवियों और सालों के नाम अमर करना चाहते थे। रॉस ऑइलैण्ड वाइपर ऑइलैण्ड (अवश्य ही यहाँ जहरीले नाग रहते होंगे)।

वाइपर ऑइलैण्ड में एक टेकडी पर पुराना फाँसीघर भी देखा। 1857 के भारतीय सैनिकों को, जिन्होंने देशप्रेम किया था यहाँ लाकर फाँसी दी गयी थी

एक द्वीप में किसी पेशेवर अपराधी ने तत्कालीन वायसराय लार्ड मेयो की हत्या की थी, उनकी सैर के दौरान। ब्लड एवेन्ज बाई ब्लड। चार या शायद तीन हजार वर्षों के रक्तपात के बावजूद मनुष्य को अकल नहीं आयी कि रक्त का बदला रक्त होता है। बुद्ध, ईसा, गाँधी रक्तपात समाप्त करना चाहते थे। मगर वे अब पुस्तकालयों, सग्रहालयों और पूजाघरों की वस्तु होकर रह गये हैं।

रिनासाँ कलाकारों ने कला और धर्म को एकाकार कर ईसा को सिर्फ एक कृति या मसीहा होने स बचाना चाहा। उन्होंने ईसा में मनुष्य का उत्कृष्ट रूप देखा और दिखाया।

भारतीय और दक्षिणशियाइ कलाकारों ने भी बुद्ध का नरातम के रूप में दरसाया।

मगर बुद्ध और ईसा दोनों की पूजा होती है अपने-अपने ढग से। वे चैत्यों मठों गिरिजाघरों या फिर भद्रलोक के ड्राइगघरों की वस्तुएँ और सजावट होकर रह गये।

गाँधीजी फिल्म का विषय बन गये।

जिन्दगी में व्यवहार में किसी का गवाह न गाँधी रहे, न बुद्ध न ईसा। कोई नहीं कहता मैं तुम्हारी शरण हूँ। कोई नहीं दोहराता प्रेम करो। कोई नहीं कहता क्षमा करो।

चारों ओर रक्त और प्रतिहिंसा की गुहार है चीख-पुकार है। हत्या सिर पर सवार है समग्र मानवजाति की हत्या।

लाच में बैठकर सौन्दर्य-विहार करते सौन्दर्य को निगलते, मापते हुए भी मेरा मन अशान्त है इस समुद्र की तरह। फर्क इतना है कि समुद्र गहरा है मै उथला हूँ, ओछा हूँ। जीवन-भर प्रयत्न कर भी अपने मन और व्यक्तित्व में गहराई नहीं पैदा कर सका।

6 जनवरी 1986/ सोमवार / पोर्ट ब्लेयर

आज भी दिन-भर नाव पर द्वीप समूह की समुद्र की सैर करता रहा।

समुद्र विराट है। वह मनुष्य का उसकी तुच्छता का बोध कराता और शक्ति का भी—यह कि तुम विजेता हो तुमने जय यात्राएँ की हैं समुद्र में और अन्तरिक्ष में।

समुद्र भिन्न है भूमितत्व से बिलकुल भिन्न, जल जिसे सिर्फ वायु मथ सकता है।

क्या माया है! कैसी है ईश्वर की सृष्टि! यह समुद्र चन्द्रमा को देखकर लपकता है न हाने पर तटों पर सिर धुनता है।

वैज्ञानिक व्याख्याओं ने हमारे अन्तर्जगत को कितना छोटा कितना जिज्ञासा-रहित कितना कोरा बना दिया है, अन्यथा कितना जादू है इस सृष्टि में।

कम-से-कम मेरे जीवन-काल में वे यह सारा माया-लोक यह समग्र जादू नहीं तोड पायेंग—ब्रह्माण्ड का तिलिस्म।

7 जनवरी 1986/ मगलवार / कलकत्ता

कलकत्ता के लिए फिर मन उदास हो गया। चारों ओर लोग हैं। मगर सब, जैसे एक भूलभुलैयों में घूम रहे है।

किसी की आँखों में चमक नहीं। चेहरे पर रौनक नहीं। हरेक जानता है, भविष्य नहीं।

यही वह नगर है जहाँ मै पहली बार 1965 में आया था। आज से इक्कीस साल पहले इन्हीं दिनों। मैंने कलकत्ते के मन में घुमडते स्वप्न देखे थे। स्त्रियों को सगीत में सराबोर देखा था। नौजवानों की बहसें सुनी थीं जिनमें जान थी और वे नौजवान देखे थे जो अपनी आस्था-विश्वास के लिए जान देने पर आमादा थे।

सुसस्कृत वेश्याएँ देखी थीं, सभ्य शराबी देखे थे बात-बात पर लड पडनेवाले कवि देखे थे, चाकू के बल पर क्रान्ति का हौसला रखनेवाले करोडपति बापों के नक्सलपन्थी बेटे देखे थे।

मगर अब।

अब गँवार और फूहड रण्डियाँ हैं। (सुना है बिहार और बगाल के राजनेता उनके मेजबान और मेहमानों दोनों ही हैं) उजड्ड असभ्य, उचक्के पियक्कड है कवियों को मेमना बनाने की कोशिश है और चाकू गुण्डों की भाषा बन गया है। जॉब चार्नाक का कलकत्ता तो बहुत पहले खत्म हो चुका था और टैगोर का भी। हमने अपने जीवन-काल में जो कलकत्ता देखा था, वह भी नहीं रहा।

याद दिलाने को हावडा का पुल है।

9 जनवरी 1986/ बृहस्पतिवार / बनारस

बनारस जो मेरी कविताओं में काशी बनकर, बार-बार आता है मरा प्रिय शहर है। शिव का भी प्रिय शहर है बगाल की विधवाओं का भी यूरोप और अमेरिका के गँजेडी और अफीमची युवकों का भी मूर्तियों की तस्करी करनेवालों का भी और जीवन-भर बगैर कुछ किये सिर्फ मरनेवालों का भी।

क्यों ?

पता नहीं।

शायद इसलिए कि बनारस शिव का नगर है।

शायद इसलिए कि बनारस ससार का सबसे स्वाधीन स्वायत्त नगर है। क्या नहीं है यहाँ जिसे आजादी नहीं। मरने के बाद अपने-अपने स्वर्ग में पहुँचने की इच्छा रख मरनेवालों की आजादी। घाट पर सीढी पर गली में सारा जीवन गुजार देने की आजादी। कोढ का कर्मफल मानने की आजादी।

इस लोक की आजादी तो हर जगह है। बनारस अकेला शहर है जहाँ परलोक की आजादी है।

शिव प्रत्येक की मान्यता, विश्वास, मनोवांछित मरणशैली और जीवनशैली की रक्षा करते है।

शिव जो दिखाई पडते है–कभी काठी की शक्ल में कभी भिखारी की, कभी विधवा की कभी साँड की कभी तस्कर की कभी मूर्ति की, कभी-कभी परिचित-अपरिचित की।

शिव, जो स्मरण आत है और शिव जो स्मरण नहीं आते।

मगर काशी (बनारस) में सिर्फ शिव नहीं शव भी है।

असख्य शव। बहत हुए शव दहकते हुए अगारों की तृष्णा शान्त करते हुए शव भीड को चीरकर गुजरते हुए शव, न जाने कहाँ से लाठी टेकते, हाँफते रुक-रुककर चलते हुए शव शव के नाम पर छलते हुए शव, मणिकर्णिका का पता पूछते शव मणिकर्णिका से डरकर छटपटाते हुए शव।

मैन शव का न जान कितने रूपों में देखा है कल्पनाएँ की है।

बनारस में मरे बचपन का वह हिस्सा गुजरा है जहाँ गगा हमारी स्मृति का पर्याय बन जाती है।

सम्भव है किसी जन्म में मै रोहिताश्व था। या डोम ? जा भी हो मैं बार-बार आया काशी।

काशी में मेरी बुआ ब्याही गयी थीं। मरे पिता स छोटी थीं। उन्हे बहुत प्यारी थीं और उनसे भी अधिक मेरी दादी को।

और मैं अपनी दादी का लाडला था। उनक साथ बार-बार हर साल बनारस आता। फिर अकेले बनारस आने लगा। वैस पास ही प्रयागराज है और दूर ही सही दिल्ली भी है। मगर मैं कहीं नहीं गया। सिर्फ बनारस आया।

क्यों ?

मैन कहा न मै नहीं जानता।

या तो मै

डोम था

या

राहिताश्व।

मैं बनारस में नहीं बसा। मगर बनारस मुझमें बस गया। मैं कैम राक सकता था बनारस का बसन स ? उसन मुझमे जहाँ भी जगह खाली देखी घर बना लिया।

मरी बुआ बूढ़ी हा चुकी है। मुझ दख रान लगीं। शायद स्मृतियाँ जाग उठीं गगा कगार नाड बह निकली।

मुझे याद आया मैंने इन्हें कभी युवा देखा था। तब वह कितनी सुन्दर थीं। सुन्दर अब भी हैं। बुढ़ापे का अपना सौन्दर्य होता है मृत्यु की अपनी शान्ति होती है। मगर चेहरे पर झुर्रियाँ हैं क्या ये दरारें हैं शरीर कहने-भर का शरीर है।

यहाँ से बनारस से कुछ ही दूर सारनाथ में बुद्ध ने सबसे पहले अपने पाँच शिष्यों से यही कहा था–

जरा।

रोग।

वृद्धायु।

मृत्यु।

इस चक्र से निकलो। और इस चक्र से निकलने का रास्ता है।

मगर आसान नहीं।

अन्यथा हम बार-बार बनारस क्यों आते।

हम आते ही हैं बनारस क्योंकि हमें अभी

रास्ता नहीं मिल पाया है।

रास्ता है।

और रास्ता यहीं है

राँड साँड और शव जिस पर से

गुजर रहे हैं

वहीं कहीं।

कौन जाने।

10 जनवरी 1986/ शुक्रवार / बनारस

आज बड़े सबेरे नाव पर गंगा-विहार करते हुए सूर्योदय देखा। गंगा का काशी का सूर्योदय।

लाल एकदम लाल सूर्य। गंगा से निकलता हुआ उगता हुआ। तुलसीदास ने इसी सूर्य को इस लाल गोले को देखकर अंजनी-पुत्र हनुमान की कल्पना की होगी।

घाट-ही-घाट है। दशाश्वमेध और मणिकर्णिका तो दो मशहूर घाट हैं। हर दस कदम पर एक घाट है किसी राजा, रानी या व्यापारी के नाम पर।

और कर भी क्या सकते थे वे अपना नाम चिरस्थायी करने को ?

मगर जरा और चलो। तुम्हें मिलेगी मणिकर्णिका जहाँ मुर्दे फूके जा रहे होंगे। और दो नहीं शायद तीन हजार साल से यही फूके जा रहे हैं। क्या याद दिलायगी वह तुम्हें ? यही कि कुछ भी स्थायी नहीं। भाइयो कुछ भी टिकाऊ नहीं अमर नहीं अजर नहीं। सबक लो सीखो सिर झुकाओ महाकाल के आगे।

हम कहते हैं कालजयी। कालजयी सिर्फ एक मुहावरा है। कुछ नहीं कालजयी।

भारतेन्दु ने कहा, 'राजा हरिचन्द की कहानी रह जायगी।'

बस कहानी रह जायगी, क्योंकि कहानी शब्द है नाद है विस्फोट है सृष्टि का ब्रह्माण्ड का विस्फोट।

कल जब मैं अपनी बुआ के घर गया था, अर्दली बाजार तो अपने फूफा को देखा 85 साल की उम्र बिस्तर पर पड़े न बोल सकते हैं, न हाथ-पैर हिला सकते हैं। उन्हें कोई बीमारी नहीं। सिर्फ बुढ़ापा है।

लगा एक शव है जो सिर्फ प्रतीक्षा कर रहा है। न कोई भय रह गया है, न तृष्णा न लोभ।

मगर मैंने कितना गलत सोचा था। सिर्फ मृत्यु ही हमें लाभ और तृष्णा से छुटकारा देती है। कारण कि मैंने जैसे ही मिठाई का डिब्बा खोला, शव हिलने-डुलने लगा। परिवार के लोगों ने समझ लिया। सहारा देकर उठाया। उन्होंने अँगुली से मिठाई की ओर इशारा किया। मेरी बुआ ने उनके मुँह में एक मिठाई का टुकड़ा डाला और शव के चेहरे पर तृप्ति का भाव आया। उन्हें लिटा दिया गया।

थोड़ी देर में शव खर्राटे भरने लगा। न जाने कितनी तृष्णाएँ स्वप्न में मँडरा रही होंगी।

एक ऐसी ही घटना की याद आ गयी। कुछ साल पहले अपनी मृत्यु के कुछ दिन पहले मेरे पिता ने खाट पर पड़े-पड़े अस्फुट स्वर में कहा ' बड़े दिनों बाद आये हो। आज मछली खिलवा दो।

मछली खाने के बाद उस दिन मैंने उनके चेहरे पर ऐसी ही तृप्ति देखी थी।

यह कैसी तृप्ति है ? कैसी लालसा ?

मैंने कबीरदास की पंक्ति दोहराई 'माया महाठगिनि हम जानी।

10 मार्च 1986/ सोमवार / न्यूयार्क

इस बीच में कितना कुछ घट गया। जिन्दगी ही बदल गयी। मैं मौत के कगार पर खड़ा हूँ।

पिछले छह महीनों से मैं पेट और पीठ के दर्द से परेशान था। तीन-चार हफ्ते हुए बेरियम मिल्क कराया तो पता चला कि पेट में अल्सर है। दवाएँ कीं। तुरत कोई राहत नहीं मिली। विलिंगटन अस्पताल में जाँच और इलाज के लिए भरती हुआ।

और जाँच करने पर पता चला कि भोजन की नली के निचले हिस्से में कैंसर है। तुरन्त राजीवजी को फोन किया। उन्होंने अपने सचिवालय को आदेश दिया कि न्यूयार्क के स्लान केटरिंग अस्पताल में मेरे इलाज की व्यवस्था करायी जाय।

इलाज के लिए खर्च चाहिए। उन्होंने पार्टी को आदेश दिया। एयर इण्डिया से मुझे तीन टिकिट दिलाये। मेरी पत्नी, लड़का और मैं।

इस तरह सभी व्यवस्था हुई। ईश्वर उन्हें लम्बी उम्र दे।

1983 में भी उन्हीं की मदद से मेरे हृदय शल्यचिकित्सा हुई थी न्यूयार्क में। उनसा सहृदय दुर्लभ है। वह मित्रों के मित्र हैं। पिछले सोमवार, 3 मार्च को मैं न्यूयार्क पहुँचा सपरिवार। वीणा मन्टू और मैं। तुरन्त मेरी जाँच शुरू हुई। स्लोम कटरिंग कैंसर का सबसे मशहूर अस्पताल है। सर्जरी विभाग के अध्यक्ष डॉ मर ब्रेनन ने मेरी आरम्भिक जाँच की।

दूसरे दिन डॉ लाहरडेल ने एण्डोस्कोपी की और बायप्सी के लिए मांस का एक टुकडा काटकर निकाला है।

बायप्सी की रिपोर्ट अभी नहीं आयी। मगर डॉ लाहरडेल का ख्याल है कि एक छोटी-सी झिल्ली है जिसमें ग्रोथ है। अब कल मुझे रेडिएशन के लिए अस्पताल जाना होगा। परसों वे मुझे भरती करेंगे और बृहस्पतिवार को मेरा ऑपरेशन होगा। ऑपरेशन डॉ मनजीतसिंह बन्स करेंगे। दस रोज मुझे अस्पताल में रखेंगे।

मौत का यह मुझ पर दूसरा हमला है। पहली बार 1983 में तो बच निकला। इस बार देखें क्या होता है।

जीवन मरण नियति कुछ समझ में नहीं आते।

मनुष्य की अपनी इच्छा ज्ञान दृष्टि कल्पना के परे बहुत कुछ है हम जिसके विषय में कुछ नहीं जानते और कभी नहीं जान पायेंगे।

11 मार्च 1986/ मंगलवार / न्यूयार्क

आज सवेरे स्लोन कटरिंग अस्पताल में मुझे रेडिएशन दिया गया। भोजन की नली में पाइप डालकर करीब 15 मिनिट डॉक्टरों ने रेडिएशन चिकित्सा की। वे कहते हैं इससे ऑपरेशन में सुविधा होगी। उनकी मान्यता है कि इससे कैंसर-ग्रस्त सेल सिकुडकर रह जायेंगे और ऑपरेशन के जरिए कैंसर-प्रभावित हिस्से को निकालकर फेंक दिया जायगा।

रेडिएशन सिर्फ 15 मिनट हुआ मगर सारा शरीर दिन-भर शिथिल रहा जैसे शक्ति ही नहीं रह गयी हो।

जब से बीमारी का पता चला है भूख ही बुझ गयी है। डॉक्टर कहते हैं कैंसर में ऐसा अक्सर होता है।

क्या कहूँ!

कितना अभागा हूँ मैं!

बचपन से रोगग्रस्त रहा। अभी जवान भी नहीं हुआ था कि पिता निकम्मे हो गये। कोई काम नहीं कोई आय नहीं। जिस उम्र में लोग सपने देखते हैं मैंने स्कूल मास्टरी की, माँ-बाप भाई-बहिनों को पाला और अपनी शिक्षा पूरी की।

दिल्ली आया तो एक के बाद एक मुसीबतों का सिलसिला चल निकला। कोई अन्त नहीं। पराजय विफलता पीडा अपमान रोग धोखा सब मुझसे चिपकते गये।

कभी निराला की पंक्ति याद आती है ' क्या कहूँ, आज जो नहीं कही, दुख ही जीवन की कथा रही तो कभी मुक्तिबोध की पिस गया वह भीतरी और बाहरी दो कठिन पाटों बीच ऐसी जिन्दगी है नीच।

नहीं जानता यह डायरी जारी रहेगी या यह इसका अन्तिम पन्ना होगा।

मगर इतना अवश्य कहूँगा मै जीना चाहता हूँ।

हमारा हिन्दू दर्शन हमारे ग्रन्थ कितने सही हैं।

बार-बार वे जिस एक जगह पर लौटकर आते है जिस एक शब्द को वे बार-बार दोहराते है वही सच है वही अन्तिम सत्य है।

भाग्य का अभिलेख लिखा जा चुका है। न हम उसे पढ सकते है, न बदल सकते है।

क्या मै जानता था कि तीन वर्ष में मृत्यु मुझे दो बार आ दबोचेगी और क्या मै जानता हूँ, आगे मेरे साथ क्या होगा और क्या नहीं होगा ?

सब कुछ सपना लगता है। पिछली सारी जिन्दगी सब कुछ जो मेरे साथ घटा जो मैंने देखा भोगा झेला रचा बसा बसाया सब कुछ सपना ही तो था।

और अब भी। मै सपना ही तो देख रहा हूँ। सपने में जी रहा सपने में मर रहा हूँ।

समग्र सृष्टि मेरा नहीं हमारा नहीं, परमपिता का महास्वप्न है समूचा ब्रह्माण्ड।

हम तो स्वप्नपटल पर गुजरती परछाइयाँ है।

मेरा मन शान्त है। मैंने एक उद्विग्न जीवन जिया। मगर आज शान्त हूँ। क्योंकि देर से ही सही मैंने यह समझ लिया है कि सूत्र मेरे हाथ नहीं। मै तो सिर्फ एक कठपुतली हूँ।

जैसे राखे राम तैसे रहिए।

इससे अधिक हम क्या कह सकते है क्या कर सकते है।

●●●